त्रिचत्वारिंशत्तमम्-अखिलभारतीयप्राच्यविद्यासम्मेलनम्

(१२-१४ अक्टूबर २००६)

स्मारिका



संस्कृतविभागः

जम्मू विश्वविद्यालयः, जम्मू-तवी-१८०००६

UNIVERSITY OF JAMMU

India's first ISO 9001: 2000 University

ISO 9001



स्वामी विश्वात्मानंद जी

संस्थापक :
श्रीगुरुगङ्गदेवजी संस्कृतमहाविद्यालय,
शिवकाशी सुन्दरबनी, राजौरी (जम्मू)

Front page photo : General Zoravar Singh Auditorium

त्रिचत्वारिंशत्तमम्-अखिलभारतीयप्राच्यविद्यासम्मेलनम्-२००६

(१२-१४ अक्टूबर २००६)

स्मारिका

सम्पादकमण्डलम्

प्रो. शारदा गुप्ता

डॉ. जागीर सिंहः

डॉ. सुषमा देवी गुप्ता

प्रो. केदार नाथ शर्मा

डॉ. पुरुषोत्तम शर्मा

डॉ. रामबहादुर शुक्लः

सम्पादिका

प्रो. रमणिका जलाली

स्थानीयसचिवा, AIOC

संस्कृतविभागः

जम्मू विश्वविद्यालयः, जम्मू-तवी-१८०००६

India's first ISO 9001 : 2000 University

प्रकाशक:
संस्कृतविभाग:
जम्मू विश्वविद्यालय:, जम्मू-तवी-१८०००६

प्रथमं संस्करणम् : २५०० प्रतिरूपाणि

मुद्रक:
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
५८२५, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

अर्जुन सिंह
ARJUN SINGH



सत्यमेव जयते

मानव संसाधन विकास मंत्री
भारत
नई दिल्ली-११० ००१
MINISTER OF
HUMAN RESOURCE DEVELOPMENT
INDIA
NEW DELHI-110 001

MESSAGE

I am happy to know that the Department of Sanskrit, University of Jammu is organizing 43rd session of All India Oriental Conference from 12-14 October, 2006 and is also publishing a Souvenir on this occasion. I hope this conference will have quite useful deliberations which will promote research and development in the field.

I wish all the best for the success of the Conference.

(ARJUN SINGH)

GOVERNOR
JAMMU & KASHMIR



RAJ BHAVAN
SRINAGAR-190001

September 13, 2006.

MESSAGE

I am glad that the Department of Sanskrit, University of Jammu is organizing the 43rd session of All India Oriental Conference, 2006 from 12 to 14 October, 2006. This is of particular significance to our State which from ancient times is known for being a centre of learning and also a centre of composite culture. The eminent experts participating in this Conference from different disciplines and languages should make a significant contribution to our rich heritage of Kashmiriyat, which imbibes liberalism, humanism and spirituality, cutting across barriers of language and creed. I wish this Conference all success.

(Lt Gen (Retd) S K Sinha, PVSM)

University of Jammu

Jammu - 180006

Phones : 2435268, 2450014 (O)
2454390, 2434339 (R)
Fax : 0191-2459383
E-mail : amitabh.mattoo@gmail.com

PROFESSOR AMITABH MATTOO
Vice-Chancellor



Message

I am pleased to learn that the Department of Sanskrit, University of Jammu is organizing the 43rd Session of All India Oriental Conference from 12th to 14th October, 2006.

The University of Jammu is India's first ISO 9001:2000 University. We are consolidating our strengths even as we expand the intellectual frontiers of the University. I do hope that a team of scholars, who are participating in the Conference from India and abroad, will exchange their ideas and perceptions and I am sure that the deliberations of the Conference would go a long way in updating the knowledge of participants particularly those belonging to our State.

I send my warm greetings and good wishes on the occasion.

Amitabh Mattoo

Mahamahopadhyaya Vidyavachaspati Vidyamartanda
Prof. Dr. Satya Vrat Shastri

Recipient of Padma Shri & President of India Certificate of Honour
Honorary Professor, Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
Formerly Professor and Head, Department of Sanskrit
University of Delhi
Ex-Vice-Chancellor,
Shri Jagannath Sanskrit University, Puri (Orissa)

Res. : C-248, Defence Colony,
New Delhi - 110 024
E-mail : ssarin@del3.net.in
Website : satyavrat-shastri.net
Ph. : 24336644, 24336631



शुभाशंसा

त्रिचत्वारिंशत्तमं प्राच्यविद्यासम्मेलनं जम्मूनगरे समायोज्यत इति महतः प्रमोदस्य विषयः। पुरा विविधविद्याविद्योतितान्तःकरणैर्विद्वत्प्रवेकैरध्युषितं परश्शतैर्देवालयैश्च विभूषितमिदं नगरं लघुकाशीति महनीययाऽभिख्ययाऽभिज्ञायते स्म। अत्रत्यः श्रीरणवीरग्रन्थागारो लोकप्रसिद्धः। सन्त्यत्र नाना दुर्लभाः पाण्डुलिपयः। एतन्नगरानतिदूरे विराजते वैष्णवीदेवीमन्दिरं यस्य भवनमिति नाम्ना लोके प्रसिद्धिर्यच्च परोलक्षा जनाः सश्रद्धमुपसीदन्त्यात्मनः कृतकृत्यतां चापादयन्ति।

प्रतिवर्षं समायोज्यमानं प्राच्यविद्यासम्मेलनं प्राच्यविद्याविशारदानामभूतपूर्वः कश्चन समवायः। अत्र नानादिग्भ्यो विदिग्भ्यश्च तत्तच्छास्त्रावगाहनकृतक्षणा विचक्षणाः प्रवयसस्तत्तच्छास्त्ररहस्याव- बोधनोत्सुकाः सुकुमारमतयः कुमाराश्च समवयन्ति। यद्यच्च तैरतीते वर्षद्वये कृतं तदपरैः समानधर्मभिः सह विभजन्ति ज्ञानकोषं च विवर्धयन्ति।

जम्मूनगरे सम्पद्यमानमिदमधिवेशनं सानन्दं सम्पन्नतां यायादिति भूतभावनं भगवन्तं प्रार्थयते–

सुरसरस्वतीसमाराधनैकव्रतः
सत्यव्रतः शास्त्री

प्रो० वाचस्पति उपाध्याय
कुलपति
Prof. Vachaspati Upadhyaya
Vice Chancellor
श्री लालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
नई दिल्ली-११००१६
Shri Lal Bahadur Shastri
Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha,
(Deemed to be University)
New Delhi-110016

सचिव
महर्षि सान्दीपनि
राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान
(मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार का स्वायत्तशासी संस्थान)
प्राधिकरण भवन, द्वितीय तल, भरतपुरी, उज्जैन 456 010 (म.प्र.)

Secretary
Maharshi Sandipani
Rashtriya Vedvidya Pratishthan
(An autonomous organisation of the Ministry of HRD, Govt. of India)
Pradhikaran Bhavan, II Floor, Bharatpuri, UJJAIN-456 010 (M.P.)



27 सितम्बर 2006

सन्देश

यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि प्राच्य विद्या सम्मेलन का 43वाँ अधिवेशन दिनांक 12 से 14 अक्तूबर 2006 तक जम्मू विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में महान् भारत के प्रशस्त प्रदेश जम्मू में हो रहा है। इस राज्य को 'माँ वैष्णो देवी' के सान्निध्य में स्थित होने का गौरव प्राप्त है। प्राचीन काल से ही भारत का यह भव्य प्रदेश संस्कृत और संस्कृति के चिन्तन, विमर्श एवं संवाद का केन्द्रबिन्दु रहा है। प्राच्य विद्या सम्मेलन के अवसर पर भारत-भारती के समुपासक विद्वानविदुषियों का समागम वस्तुतः महत्त्वपूर्ण विषयों पर चिन्तन, मनन के द्वारा संस्कृत वाङ्मय की विविध ज्ञान-राशि की वृद्धि में अनुपम योगदान करेगा। विविध सत्रों में प्रस्तुत किये गये शोध-निबन्धों के माध्यम से महाकवि कालिदास की उक्ति ''**सरस्वती श्रुति महती महीयताम्**'' चरितार्थ होगी।

मैं जम्मू विश्वविद्यालय के कुलपति, प्रो. अमिताभ मट्टू एवं संस्कृत विभागाध्यक्षा प्रो. रमणीका जलाली तथा संयोजन समिति के अन्य सदस्यों को इस विशिष्ट आयोजन के लिए वर्धापन देता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह आयोजन पूर्णतः सफल एवं महिमा मण्डित होगा।

उपाध्याय
(वाचस्पति उपाध्याय)

Address for Correspondence :
Vice-Chancellor, Shri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha, Qutub Institutional Area, New Delhi-16
Tel. : (Off.) 26851253, 26564003 (Resi.) 26851250, 26855099 Fax : 011-26520255
E-mail : vu_vidyapeetha@hotmail.com, vcslbsrsv@yahoo.co.in

प्रो. वेम्पटि कुटुम्ब शास्त्री
कुलपति
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
मानित विश्वविद्यालय
(मानवसंसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के अधीन)

Prof. V. Kutumba Sastry
Vice-Chancellor
RASHTRIYA SANSKRIT SANSTHAN
Deemed University
(Under MHRD, Govt. of India)

रा०सं०सं०/वीसी-3/06-07/227 18.9.2006



सन्देश

मुझे यह जानकर अति हर्ष का अनुभव हो रहा है कि अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद का 43वां अधिवेशन मां वैष्णवी देवी की कृपा से आपके विश्वविद्यालय में आयोजित किया जा रहा है । पूरे भारतवर्ष से अनेक बुद्धिजीवियों का आपके विश्वविद्यालय में आगमन होने से आपके विश्वविद्यालय की ख्याति तो बढेगी ही साथ ही तीन दिन तक अनेक विषयों पर गंभीरता से विचारमंथन करने से भारतीय संस्कृति और चिन्तन की अवश्य ही बढोतरी होगी । इन चिन्तनों को आपने एक संग्रह के रूप में प्रकाशित करने का निश्चय किया है यह बहुत ही प्रशंसनीय कदम है । मैं समझता हूं कि इस पत्रिका के माध्यम से भारतीय संस्कृति एवं चिन्तन को जनमानस तक पहुंचाने में सफलता प्राप्त होगी साथ ही इस तरह की पत्रिका आपके विश्वविद्यालय को यशस्विता दिलाने में सहयोगी होगी और आपको इसका अवश्य ही यश प्राप्त होगा । आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि मां भगवती की असीम कृपा से इस महान् आयोजन को सफलता प्राप्त होगी । इस सन्दर्भ में जुडे सभी महानुभावों को हार्दिक अभिनन्दन एवं बधाई प्रेषित करता हूं ।

(वि0 कुटुम्बशास्त्री)

प्रो0 रमणीका जलाली
स्थानीय सचिव
43वां अखिल भारतीय प्राच्त विद्या सम्मेलन
संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय
जम्मू (तवी) –180006

56-57, Institutional Area, Janakpuri, New Delhi-110058 Ph. : (O) 28523949 (R) 25085238 Fax : 28521948
EPABX : 28524993, 28521994 Gram : SAMSTHAN E.Mail : rsks@nda.vsnl.net.in

प्रो. राजेन्द्र मिश्र
पूर्व-कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी - २२१००२



दूरलेख : श्रुतम्
दूरभाष { कार्यालय : (०५४२) २२०४०८९
: (०५४२) २२०४२९३
निवास : (०५४२) २२०६६१७
: (०५४२) २२०७४५७
फैक्स : (०५४२) २२०६६१७
E-mail : vcssvv_vns@satyam.net.in

पत्राङ्क..................   दिनाङ्क ३.९.२००६ ई०

नान्दीवाक्

यह जान कर हार्दिक उल्लास हुआ कि ७३ वें अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या-अधिवेशन, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू के मंगलमय अवसर पर एक स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है जिसमें, इस ऐतिहासिक सारस्वत-महोत्सव के विविध पक्षों का सुरुचिपूर्ण भव्य प्रकाशन किया जायेगा।

इस महान् अधिवेशन के अध्यक्ष-रूप में मैं स्मारिका के प्रकाशनार्थ स्थानीय सचिव प्रो० रमणीका जलाली तथा उनके सहयोगियों को हार्दिक बधाई देता हूँ, शुभकामनायें अर्पित करता हूँ तथा समारोह की निर्विघ्न सम्पन्नताहेतु अपनी मंगल-कामनायें प्रेषित करता हूँ!

काश्मीर-मण्डल चिरकाल से ही भारत राष्ट्र का मुकुटमणि रहा है। देववाणी संस्कृत की तो महिमा एवं गरिमा की वह प्रसवस्थली रहा है। यहीं भगवान् श्रीकण्ठ की प्रेरणा से आचार्य वसुगुप्त ने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का दिव्यालोक प्राप्त किया, जिसे कालान्तर में विश्वव्यापी बनाया उत्पल, अभिनवगुप्त एवं क्षेमराज आदि ने! यहीं जन्मीं प्रतिभा-पटिष्ठ महाकवि भल्लट की अन्योक्तियाँ! यहीं से प्रवाहित हुईं आनन्दवर्धन, रत्नाकर, बिल्हण, क्षेमेन्द्र, दामोदरगुप्त एवं मंखक आदि कवियों की स्वरलहरियाँ! संस्कृत अलंकारशास्त्र के अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति एवं औचित्य - पाँच काव्यात्म-सम्प्रदाय काश्मीर की ही धरती पर अंकुरित, कन्दलित, पल्लवित तथा पुष्पित-फलित हुए!

काश्मीर ने न केवल भारतवर्ष को, अपितु समूची विश्वसंस्कृति को प्रभावित किया है अपनी इतिहासदृष्टि से, अपनी तंत्रसाधना से, अपने चूडान्त शास्त्रसिद्धान्तों से तथा अपनी निसर्गच्छटाओं से! काश्मीर का शारदापीठ सदा-सदा से संस्कृत कवियों के लिये उनके निर्दोष कवित्व का निकष रहा है!

ऐसी दिव्याभा-मण्डित धरित्री को मैं, राष्ट्र के संस्कृत-समाज की ओर से प्रणाम अर्पित करता हूँ तथा काश्मीर-उपत्यका के अञ्चल में आयोजित इस अधिवेशन की सफलता की कामना करता हूँ।

शिमला
३ सितम्बर २००६ ई०।

सस्नेह
अभिराजराजेन्द्र मिश्र
अध्यक्ष,
अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन
जम्मू (जम्मू-काश्मीर)

Grams : VIDYAPEETHA

आचार्य हरेकृष्ण शतपथी
कुलपति

PROF. H.K. SATAPATHY
VICE–CHANCELLOR



राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
तिरुपति-५१७५०७ (आं.प्र.)

RASHTRIYA SANSKRIT VIDYAPEETHA
(DEEMED UNIVERSITY)
TIRUPATI - 517 507 (A.P.)
Accredited with A+ Grade by NAAC
Tel./Fax : 0877 - 2287680 (O) 2287838 (R) 2287826
e-mail : hks_vc@yahoo.com

MESSAGE

It is heartening to ntoe that the 43rd session of the All India Oriental Conference is going to be hosted by the University of Jammu, Jammu with Prof.Ramanika Jalali as the Local Secretary during 12 - 14 October, 2006 and a large number of oriental scholars from various parts of the country are expected to attend the session and present their research papers.

Participation in such a Conferece is an amazing experience and presentation of papers before the learned gathering followed by fruitful discussions is intended to expand the horizon of knowledge and wisdom of concerned participant. Any conference provides a common platform to the delegates of various tastes and temparement in the realms of knowledge for the purpose of exchanging their views and experiences with each other for strengthening their intellectual base with a feeling of reciprocal cooperation and mutual brotherhood. All the participants of the 43rd Session, I am confident, will take the full advantage of the true spirit of the Conference and their intellectual deliberations will go a long way in inspiring and encouraging the younger generations, particularly in the field of Sanskrit and oriental studies, to have an access to the new vistas of knowledge with an inquisitiveness of mind.

The Jammu Session of the Conference has assumed much significance because of the divine grace and attraction of the Goddess **Sri Vaishnavi** and the scenic as well as distinctive beauty of the geographical surroundings of the location, which has been attracting tourists from all over the world since time immemorial. The delegates of the Conference are bound to be fascinated by the inherent aesthetic echo of the venue.

I avail this opportunity to extend my warm greetings to all the organizers and delegates of Conference and wish the Conference a grand success.

20/9/06

Date:

(HAREKRISHNA SATAPATHY).
VICE CHANCELLOR.

संस्थापक
श्री गुरु गंगदेव जी
संस्कृत महाविद्यालय,
डिग्री कालेज, बी०
एड०कालेज, मॉडल ऐकडमी,
अन्नक्षेत्रादि – शिवकाशी
सुन्दर बनी, जिला –राजौरी
(जम्मू एवं कश्मीर)



परमश्रद्धेय विरक्त
शिरोमणि महामण्डलेश्वर
श्री स्वामी विश्वात्मानन्द
सरस्वती जी महाराज

शुभकामना सन्देश

"कार्यक्रमो यशस्वी स्यात् सज्जनैर्बहुभिः स्तुतः।
श्रमोत्साहौ नवौस्यातां वर्धतां कार्यकृद्बलम् ।।"

जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग द्वारा आयोजित 43वाँ अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन न केवल जम्मू प्रांत के लिये अपितु भारतवर्ष तथा सम्पूर्ण विश्व के लिये अत्यन्त गौरवपूर्ण विषय है ।

‖ वेदामृतम् ‖

वेद अमृत है, एवं विश्व के प्राण हैं । वेद से ही सम्पूर्ण विद्यायें प्रकट हुई हैं । वेद से ही समस्त विश्व का कल्याण सम्भव है । एतदर्थ वेदों का ज्ञान आवश्यक है ।

संस्कृत का अध्ययन केवल भाषा का ही अध्ययन नहीं, बल्कि अपने संस्कृति, इतिहास, पूर्वजों की गरिमा एवं भारतीय आत्मा का अध्ययन है। संस्कृत के अध्ययन से पंचशील, विश्वबन्धुत्व, मानवता, विश्वशान्ति आदि में सफलता मिल सकती है । व्याकरण संस्कृत भाषा की प्रकाशिका है ।

इस सम्मेलन में पूरे भारतवर्ष और विश्व के अन्य देशों से विद्वद्वृन्द उपस्थित होकर प्राच्यविद्या पर अपना गहन विचार प्रस्तुत करेगें । मुझे दृढ़ विश्वास है कि यह सम्मेलन वर्तमान संस्कृतशिक्षा पद्धति को तेजस्वी, प्रभावशाली, व्यवहारिक सम्मानजनक एवं जीवनोपयोगी बनायेगा तथा सभी विद्वान् एवं जनसमुदाय के लिये ज्ञानवर्धक सिद्ध होगा ।

सम्मेलन की सर्वतोन्मुखी उन्नति के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनायें आपके साथ हैं ।

तिथिः– प्रतिपद् आश्विन् शुक्लपक्ष
सम्वत् 2063

कृते ...CHAIRMAN
SVNS CHARITABLE TRUST
SUNDER BANI

S. Trilochan Singh
Member Legislative Council



JAMMU & KASHMIR
LEGISLATIVE COUNCIL
JAMMU / SRINAGAR

No. MLC/JKNC/P-7/162

Dated 26th of Sep 2006

MESSAGE

It is my pleasure to bestow my best wishes for the success of 43rd **session of All India Oriental Conference** going to be held in University of Jammu, Jammu for the first time of its eighty years history of the society.

I wish success to the organizers.

With Regards,

Yours Sincerely

Tarlochan Singh Wazir
Member Legislative Council
Govt. of J&K.

॥ नमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

॥ जय आत्म ॥ ॥ जय आनंद ॥ ॥ जय ज्ञान ॥ ॥ जय देवेन्द्र ॥

आचार्य शिवमुनि



शुभ कामना संदेश

आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस का आयोजन भारत के समस्त प्रान्तों से आये विद्वानों का त्रिदिवसीय संस्कृत एवं अन्य भारतीय भाषाओं का अखिल भारतीय सम्मेलन जम्मू विश्वविद्यालय के विशाल प्रांगण में दिनांक 12 से 14 अक्टूबर, 2006 तक संस्कृत विभाग द्वारा आपके कुशल दिशा निर्देशन में आयोजित किया जा रहा है । यह सम्मेलन अपने आप में भारतीय विद्याओं के प्रचार, प्रसार तथा रिसर्च के लिए अद्वितीय प्रयास है ।

मैं आपको इसके सफल आयोजन के लिए तथा समस्त प्रतिभागियों को जो समस्त भारत से यहां ज्ञान ध्यान का अर्जन करने हेतु इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए हैं अपनी ओर से शुभ–कामनाएं प्रदान करता हूँ । सभी विद्वान् बुद्धि के स्तर से आगे बढ़कर अध्यात्म की ओर बढ़ें । अध्यात्म के अनुभव के लिए सभी धर्मों में ध्यान का अत्यधिक महत्व है । ध्यान से तनाव मुक्त एवं कर्म से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं । आप सभी विद्वानों को जीवन के हर क्षेत्र में सफलता प्राप्त हो, यही हार्दिक मंगल कामना करता हूँ ।

सहमंगल मैत्री,

शिवमुनि

आचार्य शिवमुनि

डॉ० रमनिका
अध्यक्ष–स्नात्तकोत्तर संस्कृत विभाग
जम्मू

दि०: 18 सितम्बर, 2006

सभासदोऽनुरञ्जनम्

देवेन्द्रादिसमस्तनिर्जरकुलान्यस्मत्प्रदत्तं हवि-
र्भागं स्वीयमुपाददत्यथ तथा वर्गाः पितॄणां मुदा ।
कव्यं केवलमद्य चात्र भवतां स्वाहास्वधोच्चारणात्
सा धन्या सुरभारती विजयतां यल्लेशतोऽन्या गिरः ॥1॥

यस्याः कृपालवमवाप्य जगत् समस्तं
रज्जौ भुजङ्गधिषणेव विभाति नूनम् ।
साहित्यमेलनसुहृज्जनसत्सभाया
मायेश्वरी सुरगिरामुदयं क्रियात् सा ॥2॥

मदनमोहनः अग्रवालः

दिल्ली
1.10.2006

विषयानुक्रमणिका

UNIVERSITY OF JAMMU

Jammu-Kashmir state is situated in the North-West of India bordering Pakistan, China, Tibet, Himachal Pradesh and Punjab. It is blessed with natural beauty not only physically or topographically, but also remained reknowned for its spiritual contribution for the upliftment of all the human beings irrespect of caste, creed, culture, religion or language etc. It was famous as the "Sharda Desh" and was called the "Seat of Dearing". This tradition of imparting education to eradicate ignorance as well as enlighten the society has been continued till date even now in the state.

In this light the University of Jammu was established on September 5, 1969 in Jammu, the City of temples, having the glorious record since the reign of King Jambulochan, Dogra Kings like Maharaja Gulab Singh, Ranbir Singh, Pratap Singh and Hari Singh. Dr. Karan Singh, the son of Hari Singh has the credit of being the first Governor as well as the Chancellor of the Jammu University.

The aerial view of Jammu University is very charming. The world famous Mata Vaishno Devi is under the attractive purview of the University. River Tawi (Tvisi) makes the partition line on one side with the old City and the other side famous holy temple Bahu Fort (known as Bhave Wali Mata) built by the king Bahulochan. It has two campuses. The new Campus is spread over an area about 118.70 acres and is laid out in lush green environment with an exotic botanical and cactus garden. It houses the administrative, teaching and residential infrastructure of the University. The old Campus is located at Canal Road in an area of 10.5 acres and provides residential facilities for University staff and hostel students. From a modest beginning in 1969 the University of Jammu has burgeoned into a dynamic centre, which strives for academic excellence and social relevance. The Jammu University is accredited as a four star University by the National Assessment and Accredition Council and is on the verge of discovering exciting intellectual frontier in the 21st Century.

At the time of its inception the University of Jammu had 11 teaching departments, but today it has grown to 33 departments offering Master degree, M.Phil, Ph.D. and D.Lit. degrees in different disciplines besides L.L.B and B.Lib. To keep pace with the latest academic developments, the University Departments have revised and updated their curriculum according to UGC guidelines and new academic

programmes have been introduced in various disciplines. Courses in Computer Applications, Bio Technology, Business Administration, Environmental Sciences, Strategic and Regional studies are also now available in University of Jammu.

Besides formal teaching imparted in the Departments, the University is using the alternative mode of Distance and continuing Education to bring a greater number of people especially in remote and rural areas within the ambit of higher learning.

University of Jammu provides the medical facilities for all the employees and students, Guest House, telephone exchange and library facility with twelve our free service. Jammu University is progressing in various academic new programmes and activities by expanding the intellectual frontiers. It is planning to introduce some new courses to meet the challenges of the globalization of education. Recently it has established two University Campuses at Bhaderwah and Kathua. Jammu University has become India's first ISO 9001 : 2000 and its credit goes to the highly efficient and dynamic leadership to Hon'ble Vice-Chancellor Prof. Amitabh Mattoo.

DEPARTMENTAL PROFILE :

Department of Sanskrit was established in the year 1963 under the affiliation of Jammu University with a sole objective to promote Sanskrit in different sections of society. Later on, the Department got splitted into two Universities separately i.e. Jammu and Kashmir Universities. In the beginning, Department had only two teachers however, was increased to four in the next decade. According to U.G.C. Sanskrit Department of University of Jammu was commented upon as one of the prestigious Department since its inception, in North India. The Journey to the Pinnacles of Success of Sanskrit Department is owed to Prof. Ved Kumari Ghai, Late Prof. Shambhu Nath Sharma, Prof. Kaushalya Walli, Prof. Ram Pratap, Late Prof. Mahesh Sharma.

The Department has to its credit, numbers of Students, Scholars and teachers who have showed their excellence not only in the teaching profession, but in Multimedia, Theatre, Defence-Service, Administrative-Services, Archeological Department, Police Department, Ayurvedic College, Film Industry, Translators etc. The Department has excelled in different activities and has won prizes at University level, Zonal level and national level presentations.

The faculty is sincerely engrossed for the upliftment of teaching as well as research standards of the Department. Several research projects in collaboration with International and National agencies have been got successfully completed by the teachers named Prof. Ramnika Jalali, Prof. Kedar Nath Sharma, Dr. Jagir Singh, Dr. Purshotam Sharma and Dr. Ram Bahadur.

The Department is following the U.G.C. syllabi for the teaching of Post Graduate classes. Four specialization groups are being run in the Department. As

Literature and Poetics, Epigraphy, Philosophy and linguistics. The syllabi for M.Phil. and Pre Ph.D. level is framed according to NET Syllabus. A Phonetic Lab. has been established in the Department for Phonetic Studies.

MISSION / OBJECTIVE OF THE DEPARTMENT :

- To preserve and propagate Sanskrit literature and its different aspects such as Vedangas, Dharamshastras, Linguistics, Epigraphy, Poetics and Indian Philosophy (with special reference to Kashmir Shaivism).
- To prepare the man power for the learning of Sanskrit texts at his original form's that this language may popularize to become the language of most of the common people.
- By teaching the Sanskrit texts to preserve the Indian Culture and ethics.
- Also intend to use the electronic equipments for teaching and learning of Sanskrit subject. In this process a well equipped Phonetic Laboratory is being run since, 1997.
- The Department also intends to establish a Kashmir Shaivism Chair for preservation and promotion of the original rich Philosophy of the Kashmir Philosophers.
- To give the innovative shape to the Department, it is also being attempted to run the subject of Jyotir-Vigyan with a specialized group at P.G. Level.

Ex Faculty Members of the Department

1.	Prof. Ved Ghai	—	1963-1991
2.	(Late) Prof. S.N. Sharma	—	1963-1986
3.	Prof. Kaushalya Walli	—	1964-1995
4.	Prof. Ram Pratap	—	1964-1996
5.	Dr. Champa Sharma	—	1978-1980
6.	Dr. Uma Pandey	—	1978-1984
7.	(Late) Prof. Mahesh Sharma	—	1978-2001

Present Faculty Members

1.	Prof. Ramnika Jalali	—	Prof. & H.O.D.
2.	Prof. Sharda Gupta	—	Prof.
3.	Prof. Kedar Nath Sharma	—	Prof.
4.	Dr. Jagir Singh	—	Reader

5.	Dr. Purushotam Sharma	—	Reader
6.	Dr. Sushma Devi	—	Reader
7.	Dr. Ram Bahadur	—	Sr. Lecturer

FACULTY PROFILE

1. **Prof. Ramnika Jalali (M.A. Ph.D.) :** Prof. Jalali is working as a Professor in the Department of Sanskrit. She is heading the Department w.e.f. August 2001 till date. She obtained her Ph.D. degree in Dharmashastra in 1980 from University of Jammu. She joined the faculty in 1984. She has twelve Ph.D. and thirteen M.Phil candidate to her credit. She has completed two major and three minor research projects. She is an author of three Books as well approximately forty research papers. She has attended eight international as well thirty seven National/Regional Conference/Seminars. She is Convenor of BOS, Sanskrit, member of several international and national organisations and member of academic bodies and societies.

2. **Prof. Sharda Gupta :** She has qualified M.A. in 1974 and Ph.D. degree awarded in 1980 on the topic. Brahmananda and his Advata Martanda, under the supervision of Prof. Kaushalya Walli. She has appointed as Lecturer in Degree College in July 1978 and also selected in the post of lecturer February 1983 in P.G. Department of Sanskrit University of Jammu. Her field is Poetics, Philosophy and Epigraphy. She has three books in her credit namely Advaitmartand and Shankar Vedant, collegection of poems 'Virah'. Collection of poems – Vedana. seven M.Phil. awarded under her supervision. She has attended four International and eleven National Seminar and presented her paper. She has awarded Gold Medal by Astra Scientific studies for presenting a paper in spirituralism.

Prof. Kedar Nath Sharma, M.A., M.Phil, Ph.D. (University of Jammu), P.G. Diploma in Linguistics (SS University, Varanasi) : Professor Kedar Nath Sharma is author of five books : (i) Rasabhasa Aur Bhava Bhasa (Eastern Book Linkers, Delhi 1997), (ii) Sanskrit Mein Rupasvanimika Vislesna, (iii) Triveni, (iv) Kasmiri Stotraparampara Evam Dinakrandanastotra, (v) Kasmira Ke Kavyacarya. He has also published more than forty Research papers in various reputed journals. Prof. Sharma has been working on a major project : **"Phonemic Analysis"** with the help of capture based multipurpose "PHONETIC LABORATORY" in the Department of Sanskrit. Prof. Sharma has specialised interest in the research arias like : Sanskrit Poetics, Indian Phonetics, Sanskrit Grammar and Vastu Sastra.

Prof. Sharma completion two UGC minor and one Major Research Project (Comparative Study of Centro-Eastern Phari Languages).

4. **Dr. Jagir Singh (M.A., M.Phil, Ph.D.) :** He is teaching Indian Philosophy with special reference to Kashmir Saivism. He has produced twenty M.Phil and twelve Ph.D. scholars under his supervision. He has five books in his credit namely – (a) Pratyabhijnahridayam Aur Vedantasatra Ke Sandarbha Mein – Kashmira Advaitasaiva Darshana Aur Advaita Vedanta Darshan – Eka Paryaveksana (b) Ishwara Pratyabhijna Aur Samkhyakarika Ke Paripreksaya Mein Pratyabhijna Siddhanta Tatha Samkhya Darshana – Eka Paryalochana (c) Advaita Saiva Bhakti Tatha Utpaladeva (d) Trika Darshana Mein Parashakti Kali (e) Saiviyogarasa. Besides it more than twenty research papers and five abstracts have been published and more than twenty accepted for publication. He has participated in more than seven National Seminars, four International Conferences, two workshops and two Regional Seminars. He has been conferred "Darshana Shiromani" and awarded Gold Medalist by the International Federation of Astrology and Spiritual Science Chandigarh (India) and Thalawathuagoda (Srilanka). He successfully completed the project on "Kashmir Saivism and Yoga" sponsored by UGC.

5. **Dr. Purshotam Sharma – M.A., M.Phil, Ph.D. (Sahskrit), M.A. (Hindi), Shiksha-Shastri; M.Ed, Jyotishachara (Gold Medalist) :** He joined as Lecturer Department of Sanskrit University of Jammu on April 1988. Now he has working as Reader in the Department of Sanskrit. He has awarded two Gold Medals for Jyotish and 14 prizes from different Universities and Institutions. He has been also awarded Jyotish Shiromani, title from Astro Scientific Conference. He has twelve Ph-D. and sixteen M.Phil candidates to his credit. He has completed are one Research Project. He is an author of six Books namely– (i) Ishavasyoupnishad, (ii) Bhartiya Jyotish Pravesh, (iii) Laghu Siddhant Koumudi, (iv) Siddhant Kaumudi, (v) Jotish Rahasya, (vi) Jyotishsara. He has published approximately thirty Research Papers and attended five International as well as twenty five National/Regional/ Conferences/Seminars. His field of specializations is Jyotish, Indian Poetics, Sanskrit Literature, Grammar, Vedas and Philosophy.

6. **Dr. Sushma Devi, Reader, M.A., M.Phil., Ph.D.** (University of Jammu), P.G. Diploma in Linguistics (University of Jammu) B.A. Kathak Dance (Pryag Sangeet Samiti Illahabad) Dr. Sushma is working as Reader in the Department of Sanskrit. She obtained her Ph.D. degree in Natyasastra in 1992.. Dr. Sushma has worked as adhoc Lecturer in Women College Udhampur in 1992-93, and joined as Lecturer in P.G. Department of Sanskrit, University of Jammu

in October 1997. Dr. Sushma is author of three Books :– (i) "Bharatiya Lalita Kalyan Evam Nritya Kala" (Pratibha Prakashan, Delhi, 2006) (ii) Saanson Ki Nadi Main (Neelash Prakashan, Delhi, 2006) and (iii) Ek Yuddha Aur. She has also published more than thirty Research papers in various reputed Journals. She has attended four International as well twenty National / Regional Conferences / Seminars. Dr. Sushma has been awarded "Bakshi Memorial Award" for excellent work in the field of Art and Culture and Gold Medal by Astro Scientific Studies for Research excellence in the field of Sanskrit Literature. Her thrust areas of research are Sanskrit poetics, Vastushashtra, Dharm Shastra etc. Dr. Sushma is a devotee Radio, T.V. and Stage Artist.

7. **Dr. Ram Bahadur – M.A. (Philosophy, Sanskrit), UGC NET, D. Phil (University of Allahabad) :** Dr. Ram Bahadur (Shukla) is working as a Sr. Lecturer in the Department before he was teaching as a temporary and Guest Lecturer in Sanskrit Department of Allahabad University, C.M.P. Degree College Allahabad and Rajarshi Purushottam Das Tandon open University Allahabad also w.e.f. July 01, 1998-October 31, 2000. Thereafter he joined as a lecturer in Sanskrit Department of this University on November 01, 2000. He awarded his D.Phil degree in June 2000 by University of Allahabad entitled "Naishadiya Charitam Mein Uplabdha Shastriya Sandarbhon Ki Mimamsa. Six M.Phil candidates has been awarded under his supervision, 14 Research Papers and one book under his credit namely "Naishiyacharitam Ki Shastriya Mimansa" and five are in the pipe line namely – Angapraphuran Vichar, Tarka Chandrika, Kavyprakash Khandanam, Ishwarvad, Yogbindu and Shamb Panchasika Vivaran. He has attended 25 World/National Seminars and presented his papers and awarded Jyotish Shironi also. Dr. Shukla is a talker of Radio Stations and also awarded the associateship of the International University Centre for humanities and social science at the Indian Institute of Advanced Study, Rashtrapati Niwas Shimla. He is also working on UGC Major Research Project (2006-2009) on the topic. A Critical Study of Physiognomy. His specialization is Philosophy, Literature, Vyakaran adi Shastra.

FACULTY MEMBERS



Prof. Ramnika Lalali
(H.O.D.)



Prof. Sharda Gupta



Prof. K.N. Sharma



Dr. Jagir Singh



Dr. Purshotam Sharma



Dr. Sushma Devi
Gupta



Dr. Ram Bahadur Shukla

SANSKRIT FOR INNOVATION

Satya Vrat Shastri

One of the most ancient languages of the world, Sanskrit has been with India since ages in its various incarnations of Vedic Sanskrit, Classical Sanskrit, Buddhist Hybrid Sanskrit and now Modern Sanskrit. Every age has contributed to it while it has contributed to every age. Once called just Bhāṣā; the Speech; that is how it is designated by Yāska, vide *iveti bhāṣāyaṁ cānvadhyāyaṁ ca, iva* is used in the sense of likeness, similarity in both the Bhāṣā and the Veda and Pāṇini, vide the sūtras *bhāṣāyāṁ sadavasaśruvaḥ* (3.2.108), the roots *sad, vas* and *śru* have Liṭ optionally which is invariably to be replaced by *kvasu*, *sakhyaśisvīti bhāṣāyām* (4.1.62), *sakhī* and *aśiśvī* are the forms prevalent in the Bhāṣā to distinguish it from its Vedic archaic form, it came to acquire the name Sanskrit. When this new name came to be attached to it is difficult to say in our present stage of knowledge. Some scholars cite the *Rāmāyaṇa* stanza

> ***yadi vācaṁ pradāsyāmi dvijātir iva saṁskṛtām /***
> ***rāvaṇaṁ manyamānā māṁ sītā bhītā bhaviṣyati//***

where Hanumān expresses his apprehension in using the *saṁskṛtā vāk* in his conversation with Sītā in that it would scare her into taking him to be Rāvaṇa, as an evidence of the use of the word Sanskrit for the language. Their view based on the use of the word *saṁskṛtā* gets weakened by the fact that Sanskrit as the name of a language has invariably to be in the neuter gender, vide Amara *saṁskṛtaṁ nāma daivī vāk, saṁskṛtaṁ vāk, saṁskṛtam* in neuter and *vāk* in the feminine, a clear enough indication as per the system of Amara that the word *saṁskṛta* is invariably to be in the neuter. More reliable is the use of the word in another context in the same work where it could be taken to be indicative of a language of that name: *Ilvalaḥ saṁskṛtaṁ vadan*.

Why the name Sanskrit was given to the language once called Bhāṣā is anybody's guess. Literally the word means refined formed as it is from √*kṛ* with the preposition *sam* in the sense of *bhūṣaṇa,* ornamentation or refinement, vide Pāṇ.

samparibhyāṁ karotau bhūṣaṇe (6.1.13). The speech of the common people, when come to the hands of the cultured ones, the *śiṣṭas*, might have undergone some refinement and might have thereby acquired that designation. The *śiṣṭas* to keep up the spirit of refinement framed the rules for it deviation from which they did not approve.

In its long course of history India came into contact with people of different nationalities and regions either through conquests or trade or maritime intercourse or through academic and intellectual exchanges. They spoke different languages. For long years India was in contact with the Greeks and the Romans. Sanskrit, the then language of India of higher thought and culture incorporated into it a big number of words from their languages. Its whole vocabulary of astronomical terms is of Greek origin. The Sanskrit astronomical texts carried the titles like the Horāśāsra. The word for salt quarry in Sanskrit is rumā : *rumā syāl lavaṇākaraḥ, rumā* is Rome, the Indians learnt the art of salt quarrying from the Romans. So did they learn the art of casting coins from the Greeks. The whole host of words like *dīnāra, kārṣāpaṇa* etc. is of Greek origin. The innovation in Sanskrit lies not only in accepting into its fold foreign words but in giving them its own formulation. From Iona, a Greek island came the word *yavana*. Now this word became the base for the formation according to Sanskrit structure of another word, the word *yavanānī* in the sense of the Ionian or Greek script. Since the word for script in Sanskrit, *lipi*, is in feminine, the word formed from *yavana* in the sense of the script of the *yavanas* also had to be in the feminine. For tracing its formation a process was also invented, the augment *ānuk* and the feminine suffix *ṅīṣ*, vide the Vārtika *yavanāl lipyām* While adopting foreign words Sanskrit gender was assigned to them. That was the innovation to give them the native look that made them easy of absorption. The Arabic word *kalama* was adopted and was given the masculine gender, vide the *Medinīkoṣa* : *kalamaḥ puṁsi lekhanyām*. The Persian word *śera* was adopted in Sanskrit and was assigned the masculine gender, vide the *Vaijayantīkoṣa: śeras tu kesarī siṁhaḥ*. It is interesting that while listing these words care was taken to give their meanings in so many words like *kalamaḥ lekhanyām*, *kalama* is *lekhanī*, pen; *śeraḥ kesarī siṁhaḥ, śera* is a lion with manes. The reason for this probably was that they were foreign words and needed proper explanation from lexicographers.

Very early in its movement forward Sanskrit had developed the innovative capability to accept into itself the form of the words that had evolved out of their

altered pronunciation—the grammarians would call them *apabhraṁśas*, the corrupt forms, the linguists would term them evolutions; for them there is nothing like the corrupt form of a word; it is all a natural form of linguistic evolution. The classic example of this is the word *geha* in Sanskrit that is nothing but the changed form of Sanskrit *gṛha*. Pāṇini uses it in the context of tracing the formation of *gṛha: gehe kaḥ* (3.1.144), the Kṛt suffix *ka* is added to √*grah* when the sense is that of *geha*. He mentions *geha* as the delimiting semantic factor for the suffix that he enjoins to be added to the root but does not proceed to trace its formation as he does of the word resulting out of the process, i.e. *gṛha*. The same is true of the words like *gutsa* and *guccha*, the latter the changed form of the former. The same is true of a host of other words like *rekhā, lekhā, nārikela, nālikera* and so on. As a matter of fact, the doctrine of *abheda*, the non-distinction between *r* and *l*, *v* and *b* and *ḍ* and *l*, *ralayor abhedaḥ, vabayor abhedaḥ, ḍalayor abhedaḥ* owes itself to the infinite innovative capacity of Sanskrit to accept in its fold what got corrupted or changed at the hands of multitudes of its speakers. This *abheda* also led many a later poet to evolve pun on that basis like *jaḍa* being taken both as *jala* and *jaḍa* and connected semantically with other words in their compositions.

It is due to the vagary of pronunciation that some of the words underwent change in form. Since they were not the normal forms they could evidently not be accounted for in grammar. They were to be accepted as such. And this is what Sanskrit did. Pāṇini's rule *pṛṣodarādīni yathopadiṣṭam* (6.3.109) precisely points at this, i.e. the words *pṛṣodara* etc. should be accepted as correct having been used by the cultured, *yathā śiṣṭair uccāritāni tathaiva sādhūni.* The regular form should have been *pṛṣadudara*, the word being a combination of *pṛṣat* and *udara*. The *t* not being pronounced the *a* and *u* of *pṛṣa* and *udara* turn into *o* and the word becomes *pṛṣodara*. It is the innovative potential of Sanskrit that even such mispronunciations it accepted. The other word of the type is *patañjali,* the name of a celebrated *ṛṣi*. The regular form should have been *patadañjali*. Similarly, *vārivāhaka* becoming *balāhaka* was accepted in Sanskrit as such. In the speech of the common people such abnormalities are common. That the literary speech should also accept them shows its inherent capacity to be flexible and inclusive. There is a well-known stanza in Sanskrit grammatical circles which lists with illustrations the anomalies grown out of mispronunciations, *pāramparyād apabhraṁśā viguṇair abhidhātṛbhiḥ prasiddhim āgatāḥ*, as says Bhartṛhari (*Vākyapadīya*, Brahmakāṇḍa, 154):

bhaved varṇāgamād dhaṁsaḥ siṁho varṇaviparyayāt/
gūḍhotmā varṇavikṛter varṇanāśāt pṛṣodaram//

The word *haṁsa* comes into being because of the addition of a letter, the letter *s; han+a; han+s+a; siṁha* comes into being by the interchange of the letters, *hiṁsa>siṁha, gūḍhotmā (gūḍhotmā na prakāśate)* comes into being with irregularity in letters, *gūḍha ātmā*; and *pṛṣodara* comes into being because of loss of a letter, the letter *t*; *pṛṣat + udara*. In the category of irregular forms being accepted in Sanskrit and made an integral part of its vocabulary could also be included such words as *śakandhu, karkandhu, kulaṭā* etc. which should have been *śakāndhu* being the combination of *śaka* and *andhu (andhu*=well), *karkāndhu* that of *karka* and *andhu* and *kulātā* that of *kula* and *aṭā*. A sort of grammatical justification for them has been advanced by the Vārtikakāra on the device of *pararūpa*, the previous *a* assimilating itself in the following one: *śakandhvādiṣu pararūpaṁ vācyam* (under the sutra *aco'ntyādi ṭi*, 1.1.4).

While speaking of pun it may not be out of point to mention here the infinite capacity of Sanskrit to have more than one meaning of words which has led to the most unusual phenomenon of the whole poems being composed with double meaning, the *dvyāśraya kāvyas*, the works like the *Rāghavapāṇḍavīya*, the same text giving the story of the *Rāmāyaṇa* and the *Mahābhārata*. Among the prose writers of Sanskrit Bāṇa used pun copiously in his works the *Kādambarī* and the *Harṣacarita* which were thick with its continuous occurrence, *nirantaraśleṣaghana*. Carried to extreme lengths it resulted in the composition of works like the *Vāsavadattā* of Subandhu where every syllable yielded double meaning: *pratyakṣaraśleṣamayaḥ prabandhaḥ*.

It is due to this pun that a great tragedy that was waiting to happen was averted in the medieval period. As the story goes, Rana Pratap of Mewar after prolonged resistance to Aurangzeb, the Mughal emperor was reduced to utmost straits. He had been wandering about in the forests and had been subsisting on chapattis made of grass. One day a wild cat snatched from his son even that. Now, this was too much for the Rana. He decided to make up with the emperor. He had a letter drafted in Sanskrit offering truce. The letter reached the emperor. That being in Sanskrit, he gave it to one of his Hindu courtiers to interpret it for him. The Hindu courtier, though in the service of the emperor was in his heart of heart a great

admirer of the Rana. He was appalled at the prospect of the Rana capitulating before the emperor. The letter was so drafted that it could be interpreted differently, its words yielding double meanings. He chose to interpret it in the way different from what it was intended to convey outwardly. One meaning was that he (the Rana) was surrendering to him (the emperor) and would be willing to be his subservient. The other meaning was that he would resist him to the last come what may. After the dispatch of the letter the Rana regained his composure and self-esteem and felt that he should not have dispatched the letter. He felt relieved on coming to know that the letter had been interpreted differently and resumed his resistance with redoubled energy. He also is said to have thanked profusely his learned aide who had drafted the letter. It was Sanskrit and its capacity for innovative interpretation of words that saved the situation for Pratap and redeemed his honour. From this it could be realized that pun in Sanskrit, a special characteristic of it, is not always for show of pedantry. It has its usefulness in most critical of the situations.

When India gained independence Hindi was declared the official language whereby the business of the State was to be carried on in it as well which had till then was carried on in English only. For this Hindi needed to have the equivalents of technical terms in English. The need was felt to coin them. Now, what could be the source for the coinage. It was Sanskrit that provided the source. It is only due to the possibility of innovations in Sanskrit that new words could be carved out of the old Sanskrit words, by addition either of a preposition or two or by addition of post-positions or Kṛt and Taddhita suffixes. Thus Executive Engineer became Adhiśāsī Abhiyantā. The process was carried forward to meanings also. The word *saṁsad* that originally meant an assembly, vide Amara *sabhāsamitisaṁsadaḥ* came to be restricted to a particular type of it, in the present instance the Parliament. Kulapati which had a particular connotation in Sanskrit of a teacher who teaches as per the *Padmapurāṇa* a large number of pupils, is foremost among Munis and occupies himself with *vratas* and *yajñas*:

> ***ācāryo bahuśiṣyāṇāṁ munīnām agraṇīs tu yaḥ/***
> ***vratayajñādikarmādhyaḥ sa vai kulapatiḥ smṛtaḥ//***

or as per the *Arthadyotanikā* commentary on the *Abhijñānaśākuntala* is a Brahmarṣi who teaches ten thousand Munis by providing them food, etc.

varasāra; for battle or things connected with it the words are: *yudthasād, yuddhaśāstra,* the science of warfare, the war strategy; *yudthobāy, yuddhopāya* and *yudthavidi, yuddhavidhi*, battle tactics; *yudthapān, yuddhabhāṇḍa*, war materials, *yudthaphūm, yuddhabhūmi*, battlefield; for sabotage *vinādkam, vināśakarma;* for watchman, *yāmika*; for amnesty, pardon, *nilathodkam, nirdoṣakarman.*

The potential for innovation in Sanskrit has not remained confined to any particular period. It is in evidence in the modern period as well. The Sanskrit writers who are writing in the present time have, if they are to keep pace with it, to describe objects, events and situations that did not exist before. Evidently the words for them would not also exist then. They had therefore a great challenge before them. How were they to proceed about creating a new vocabulary that could go well with the genius of Sanskrit? The Sanskrit that had come down to them lacked it. They had per force to invent it. Since Sanskrit has the infinite potential for innovation they could create one. For this they proceeded in three ways: First was that they incorporated the foreign words--it was mostly the English words, occasionally it could be Urdu or Persian words as well--by adding the case affixes to them in line with the principle *apadaṁ na prayuñjīta*, one should not use a word which is not *pada* (which it would become when *sup* or *tiṅ* suffixes are added to it). Any word, whether of Indian or foreign origin, could carry the designation of Prātipadika, according to the votaries of this school, if it has some meaning, *arthavac chabdasvarūpam*. My father, one of the greatest of the Sanskrit grammarians of his time in his own right, subscribed to this view. It was common to come across the reference to himself in the title pages of his works as *śrīdayānandakāleje saṁskṛtaprādhyāpakena cārudevaśāstriṇā praṇītam (śrīgāndhicaritam).* A great scholar-poet of Pune, the late Prof. G.B. Palsule also subscribed to this view. He would use with no inhibition English words with Sanskrit case affixes, e.g., *bombāsphotanāni, atra plega utpatsyayte, Madanalālas taṁ rivālhvarasya golikānāṁ balīcakāra, koṭaṁ apanīya nāgadante sthāpayati* etc. The word *cāya* has very often been used by modern Sanskrit writers with Sanskrit case affixes, *āgaccha, cāyaṁ piba, caṣakāc cāyaṁ pītvā* and so on. The second was that they made the foreign words or the non-Sanskritic words used in vernaculars look Sanskrit to avoid in all probability in their appearing as odd things out in Sanskrit compositions by Sanskritizing them keeping them as close as possible in sound and in certain cases also in sense to their foreign originals. In this category could be mentioned

words like Tamasā for the river Thames in England: *Tamasākhyā taraṅgiṇī nagaram abhitaḥ pravahati pramodakāriṇī, svaphena* for *sabun* or soap: *sugandhisvaphenena snātavyam,maruttara* for motor car: *bhramaṇāya cakṣūṁṣi camatkurvanto maruttarāḥ*. The inclination to make words of non-Sanskrit origin look like Sanskrit prompted a few Sanskrit writers to connect them with Sanskrit by twisting them a bit through a little phonetic change; e.g. *tobha* from *topa,* a long range gun deriving it from √ *tubh hiṁsāyām*, *hāla,* English hall, from √ *hal vilekhane halyate=vilikhyate=bhidyate janasamudāyena yugapat iti hālaḥ* (the explanation offered by the author himself), *vānijyāra* for bazaar, *haramamoyama* for harmonium, *apasara* for officer and so on. The third was to coin Sanskrit equivalents of words of non-Sanskrit origin keeping them as close as possible in sound and sense to their originals. Incidentally, this comprises the largest corpus of words, e.g., *nālāstra* for gun, *paraidhita* for parasite, *jīvanāśvāsana* for life insurance, *capalopānah* for chappal, *arthapatraka* for budget, *dūrasandeśavāhaka* for telegraph peon, *karakarpaṭa* or *karavāsas* for handkerchief, *naktāṁśuka* for night gown, *uraśśravayantra* for stethescope, *saghanacikitsākendra* for I.C.U., *bhūtaila* or *prataila* for petrol and so on.

The common word for watch is *ghaṭī* or *ghaṭikā*. If English has words for its different types, well, Sanskrit could also have the same: *maṇibandhahaṭī* for wrist watch, *paṭalaghaṭī* for time piece and *bhittighaṭī* for wall clock.

A modern Sanskrit writer (The Late Shrinivasa Shastri) has given in his Sanskrit composition, the *Sūryaprabhā*, words for all the different types of bomb which he calls *vama* connecting it fancifully with √ *vam, ṭuvama udgiraṇe,* explosive bomb, poisonous bomb, incindiary bomb, time bomb: *visphoṭakā vamā, viṣodvāmakā vamāḥ agnivamāḥ samayāpeṣivamāḥ*. So has he the words for different types of gases: *narasaṁharaṇā viṣāktā aśrusārinaḥ kṣavinaḥ todotpādino visarpasampādinaś ca geṣāh*, the poisonous gas, the tear gas, the nose-irritant gas, the lung-irritant gas and the blister gas.

Coming to innovation in literature we first turn out attention to drama. The innovative approach is noticeable there in the appearance of the short plays, one-act plays, the Ekāṅkins, the Radio plays and the plays for the television. It is the innovative spirit again which has connected foreign plays with Sanskrit. Of late a number of Shakespearean plays like *Othello* and *Merchant of Venice*, the former

under the same title and the latter under the title *Venicavanijam* have got the titles *Dīnārkarājakumāra- hemalekham* and *Candrasenaḥ* at the hands of Sukhmoy Bhattachatya and S.D. Joshi respectively. The *Faust* of Goethe has become *Viśvamohanam* at the hands of S.N. Tadpatrikar and *The Cup* of Tennyson the *Kamalāvijayanāṭakam*.

A most significant devolpment in modern Sanskrit drama has been the revival of the Sanskrit stage. There surely must have been one, fairly well-developed at that, at the time of Bharata who gives an elaborate description of it in his *Nāṭyaśāstra* which continued for quite a few centuries as testified by later works on Dramaturgy. In some period of history, however, its continuity got broken with the result that nothing of the traditional stage is available to the present period. When some of the more enterprising ones among the present-day Sanskritists tried to put on boards the old Sanskrit plays or for that matter the new ones, they had nothing to fall back upon by way of stage, except, of course, the description of it in the *Nāṭyaśāstra* and other works on Dramaturgy. They had then two options: To recreate the stage after the description of it in old dramaturgical texts or to build it up anew after their own imagination keeping in view what actually was available to them by way of stage. They had to do so. Their resources being what they were or are, they could not hope to build the theatre halls, the Raṅgaśālās, described in old texts. Moreover, they had to take into account the requirements of the present age; the light and sound effect and the technicalities.

As the present-day Sanskritists have to depend upon their imagination for the production of the plays, as said earlier, it is not unoften that their innovative genius comes to the fore for depicting certain situations difficult of presentation on the stage ordinarily. They press into service, to serve their purpose, the modern aids with quite successful results. Thus in the play *Madanadahanam* of Ramesh Kher which deals with the theme of the burning of Kāma by Śiva with the fire from his third eye, the arrival of the spring, as suggests the playwright through the stage direction, the *nāṭyanirdeśa*, can be depicted by hanging down the creepers kept at the top in such a way as to be out of the view of the audience. Similarly suggests he, an artificial eye of cotton could be put in Śiva's forehead and electric wire passed through his matted hair with a bulb concealed in it. At the appropriate moment the light is to be switched and the bulb lighted for a while to give the

appearance of the fire coming out of the forehead. Kāma can be made to fall behind an artificial hill placed on the stage. There could be released a lot of smoke of the unguents symbolizing Kāma's burning. In the *Adhyātma* the playwright Krishna Lal suggests the depiction of the scene of the gifting of the cows by Vājaśravas by putting their shadow on the screen. To give the whole scene a more realistic touch he further suggests that the lowing of the cows could be indicated (possibly from behind the screen) through the playing of a cassette.

Innovation in Sanskrit drama is a continuous process with the Sanskrit playwrights opting for the latest varieties like the street corner performances or what goes by the name of Nukkad plays in vernaculars. And it is not always that the professionals who act in them. The amateurs too try their hand at it and very successfully at that. When Mrs. Rama Chaudhary was alive she had in her drama troupe, the Prācyavāṇī even some I.A.S. officers who would act in plays, their Sanskrit pronunciation being fairly upto the mark.

Coming to poetry, innovation first came to be noticed in the use in it of the Hindi metres like Doha, Soratha, Chaupai, Alha and so on and the Urdu metres like Bahare Hazaz Mussadas Mahzuf, Bahare Raman Musamman Mahzuf etc. in the works the *Jayapuravaibhavam* and the *Sāhityavaibhavam* of the celebrated Jaipur writer the late Bhatta Mathura Nath Shastri. Later, other writers employed in their works English poetic forms like Sonnet. Quite a few of the modern Sanskrit writers are modelling their poems on film songs and setting them to their popular tunes. Free verse which was unknown to Sanskrit has found a strong presence in it. The ongoing innovative process has led to appearance in it of the form called non-poetry or *akavitā* in Hindi. Quawwalis and Gazals have also their place in it in the similar-sounding new nomenclature of Kākalikā and Kajjalikā respectively. The latest innovation in Sanskrit poetry is the introduction of the Haiku in it.

Humour, the paucity of which had been bemoaned by many a critic, has found its fulsome place in the writings of a number of modern poets a galaxy of whom is visibe now.

In prose the innovative spirit had exerted itself in adding to the Sanskrit literature a whole lot of novels from about the middle of the 19th cen. Since it was absent in Sanskrit in the form in which it is met with in other literatures--Sanskrit had only the Kathā and the Ākhyāyikā of which *Kādambarī* stealing the light had

provided the nomenclature to the new literary form in other languages what goes by the name novel in English literature--a new name Navalikā going in sound with the English word Novel has been given to it. As for short story, there is a profusion of it, thousands of such having made their appearance over the past decades. The more noteworthy version of it is mini-story, the *laghukathā*.

Before the present write-up is brought to a close, it is worth its while to reproduce an episode which points to the innovative use to which Sanskrit can be put, as indeed it had been put. The late Prof. P.H.L. Eggermont, Sanskrit colleague of the writer of these lines at the Catholic University, Leuven, Belgium had recounted to him an incident in his life. The World War II was on. Prof. Eggermont was apprehended by the Nazis on a false report of being opposed to them and sent to jail where he led for a year and a half a miserable life suffering all kinds of hardships. He was completely cut off from the outside world with no news whatsoever. No letter would ever reach him. To his surprise one day he got a letter from his friend Prof. Sten Konow of Oslo, Norway. The letter was in Sanskrit. The prison authorities checked it but since they could make nothing of it, they passed it on to him. It is from that letter that he could infer that the Nazis had suffered defeat and that the allies had won. The letter had just the following two sentences: Lord Viṣṇu has got up from his serpent bed. The period of the curse of the Yakṣa is almost over. Prof. Eggermont took the hint. His period of curse was almost drawing to a close and that he may be freed soon, he came to guess. And that could be possible only if the allies could win. So it is through Sanskrit that Prof. Eggermont took the hint of the victory of the allies in his prison cell!

मीमांसानये लोकतन्त्रम्

प्रो. वाचस्पति उपाध्यायः
कुलपति, श्री.ला.ब.शा.रा.सं. विद्यापीठ,
नई दिल्ली–110016

विश्वस्मिन् जगति स एव देशः प्रशस्तः परिगण्यते यत्र शिक्षिताः सदाचारसम्पन्नाः पारम्पर्य-परिपालनतत्परा नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानबद्धश्रद्धा आध्यात्मिकबलार्जनैकतानमतयः पुण्यं पापमिति, विधिर्निषेध इति, इदं कर्त्तव्यमिदं न कर्त्तव्यमिति, इदं भक्ष्यं इदं न भक्ष्यमिति विवेकशीला भूयस्त्वेन वर्तन्ते। एवमादीनां गुणानां प्राप्तये बाल्यकालादारभ्य लोकेभ्यः प्रदीयमाना शिक्षैव मूलमित्यत्र मन्ये, न कस्यापि विप्रतिपत्तिः स्यादिति।

सर्वेषां शास्त्राणां दर्शनानां वा प्रवर्तने प्रवचने च मुख्यमुद्देश्यमासीत् यत् तदध्ययनेन, तदर्थावगमनेन च सामाजिकानां मनसः शान्तिः मिथश्च समत्वदृष्टिः समुदियात्। भुवि जनिं प्राप्तेन सर्वेणापि मानवेन त्रय एव पदार्था भवन्ति आप्तव्याः वैराग्यं, धर्मज्ञानं मनसः शान्तिश्चेति। प्रोक्तं व्यासाचार्यैः—

> **यच्छ्रुतं न विरागाय न धर्माय न शान्त्ये।**
> **सुबद्धमपि शब्देन काकवाशितमेव तत्॥**

मनसैव समत्वबोधो जायते। मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। यथा त्रयः आप्तव्याः तथैव समाजस्य त्रयः स्तम्भाधारकाः – सैनिकवर्गः, श्रमिकवर्गः, विनेयवर्गः मध्ये शासकवर्गश्च। त्रिषु स्तम्भेषु स्थिरेषु सत्सु देशस्य गौरवं समाजस्य च भविष्यं सुरक्षितं च भवेत्। अत्रैकस्यापि स्तम्भस्य शैथिल्ये जाते निकेतनस्य हानिः सुनिश्चिता। पारतन्त्र्यनिगडबन्धनात् भारतमातरं मोचयितुं देशनायका गान्धी-प्रभृतयोऽवर्णनीयं क्लेशमनुभूतवन्तः।

तैः कथमपि निगडबन्धनान्मोचिता भारतमाता। तदर्थं तैः सत्याग्रहस्य धर्मश्चानुष्ठितः। तेषां प्रयासेन सत्यं स्वातन्त्र्यं लब्धम्, धर्मश्चाधिगतः। तयोः पालनम् अस्मदधीनम्। परमिदानीं वयं किं कुर्मः? भाषावादं प्रान्तवादं जातिवादञ्च प्रोत्साहयन्तः तत्र तत्र विद्यमानान् विनेयान्, श्रमिकान् च प्रबोध्य वर्गवादं प्रबर्धयामः। अनेन समाजे समत्वाभावः उत्पद्यते। राजसत्तामवाप्तुं बद्धपरिकरैः केनापि रूपेण आवप्तुमिष्यते। समत्वहानिः विनाशिका, समत्वदृष्टिश्च सर्वसाधिका। यथा मीमांसाशास्त्रे—"सर्वेभ्यः

कामेभ्यः ज्योतिष्टोमः'' सर्वकामार्थत्वेन विहितः। यथा संविधाने उल्लेखमात्रेण समत्वदृष्टिः लोके न सर्वत्र दृश्यते। तथैव सर्वकामार्थत्वेन विहितोऽपि ज्योतिष्टोमः सकृदनुष्ठानमात्रेण सर्वफलप्रदो न भवति किन्तु तत्तत्फलाय पृथक् पृथक् प्रयोगाः कर्त्तव्याः भवन्तीति जैमिनेर्न्यायः। न्यायोऽस्माभिरनुकर्त्तव्यः।

महात्मागान्धी समत्वभावेन सर्वेषां सहयोगेन जातिभेदं, वर्गभेदं, भाषाभेदञ्च विहाय ''वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत'' तदनुसरणेन स्वाराज्यं फलं प्रापितवान् अहिंसात्मकेन यज्ञेन। प्रजातन्त्रविधानं श्रेयः इत्युपदिष्टं तेन। प्रजातन्त्रं नाम समत्वदृष्टिः। तेनैव क्रमेण प्रजातन्त्रविधानेन राष्ट्रं चालयामः। स्वाराज्यफलस्थिरतायै वाजपेये स्वाराज्यफलकप्रयोगं परिसमाप्य बहिः क्रत्वङ्गत्वेन बृहस्पतिसवयागो विहितः ''वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत'' इति। क्रतुं परिसमाप्य क्रियमाणोऽयं बृहस्पतिसवो वाजपेयस्य महोपकारकः। तथैव समाजेऽपि समत्वदृष्टियुताः नराः नार्यश्च देशस्य राष्ट्रस्य उपकारकाः संवर्धकाश्च भवन्ति। इयमेव भारतीया नीतिः। ''अन्यैः सह विरोधे तु वयं पञ्चोत्तरं शतम्'' इति धर्मपुत्रस्य न्यायः।

धर्मनिरपेक्षं राष्ट्रं वयं परिपालयितुमिच्छामः। तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेन भवतु इयमिच्छा शासकानाम् परं राष्ट्रस्य धर्मनिरपेक्षत्वं ज्ञातुं धर्माणां परिज्ञानमावश्यकमेव खलु। धर्मो न ज्ञातः, तन्निरपेक्षं राष्ट्रं कथं परिचालयितुं शक्नुमः? धर्मः इत्युक्ते अस्माकं शासकैः सम्प्रदाय इति परिगणितः। धर्मस्तु व्यापकः पदार्थः, न सम्प्रदायवत्संकुचितः। यावत् जगत् तिष्ठति तावद् धर्मधार्मिकभावस्तत्र जहाति। सम्प्रदायस्य क्वचिदापेक्षिको लोपस्यादपि, न धर्मधर्मिभावस्य वा। धर्मधर्मिभावेन रहितमेकं तदेव भवति यत् सत्यम्। याज्ञवल्क्यसत्योऽपि यथा गोकाम आसीत्, तथा वयं राष्ट्रं समेधयितुं कामास्म्मः। शत्रुभ्यस्तद्रक्षणीयम्। देशस्य सुभिक्षता सम्पादनीया, समाजे व्यवस्थापनीय इत्यादीनि भूयांसि कार्याणि कर्त्तुमिच्छामो वयम्। तत्रेदं राष्ट्रस्य विशेषणं समुचितं यत् पक्षपातरहितम् इति।

''मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मामुत स्वसा सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया'' इयं समत्वदृष्टिः न केवलं परिवारे प्रत्युत समाजेऽपि इति वेदादेशः। यावद् भारतीयः स्वमातरमादरेण सत्करोति, स्वजात्यां प्रेम्णा पश्यति, जाया च स्वमातरं यथाभिनन्दति तथा शुश्रूषते श्वश्रूम्। माता च दुहितरं यथा वात्सल्येन पालयति, ततोऽप्यधिकं पोषयति वधूम्। सुतश्च पितरं न केवलं जनकत्वेन विभावयति, किन्तु पूज्यत्वेन। भ्रातृषु परस्परं न भागहारकत्वदृष्टिः किन्तु सहोदरभावः। गुरावन्तेवासिनो न भृतकाध्यापकत्वभावना किन्तु आचार्यत्वभावना। तस्य चास्मिन् सुतनिर्विशेषं वात्सल्यम्। भ्रातृणां भगिनीषु निरतिशयं प्रेम। अबलासु लोकानां मातृत्वबुद्धिः। वयसा ज्ञानेन च ज्येष्ठेषु बालानां मातुलत्वबुद्धिः। इयं भारतीया पद्धतिः। देशान्तरे तु विपरीतैव पद्धतिः प्रचलति। तथापि अस्मद् भ्रातरः केचन देशान्तरीयसंस्कृतिमेवावलम्बितुमीहन्ते। मानवा अपि मानवत्वमपहाय विरुद्धं पन्थानम् आतस्थिवांसः परिदृश्यन्ते। न कस्यापि मनसः शान्तिः परिलक्ष्यते। एकस्य स्वम् अपरो ग्रसितुमिच्छति। न कमप्यन्यो विश्वसिति। अनुचरा यजमानं न श्रद्धते।

जाया पतिं नाभिनन्दति। मधुनि पतितां पक्षिकामिव पतिर्जायां दूरमुद्धृत्य प्रक्षेप्तुं यतते। भ्रातृषु सौहार्दं सौजन्यञ्च लुप्तप्रायमेव। परम् अस्माभिः भारतीया दृष्टिः संरक्षणीया। संस्कृतिरियं शिक्षाधीना। संस्कृतेः शिक्षायाश्च प्रसाराय प्रधानं साधनं संस्कृतमेव। संस्कृतस्यैव देववाणीति नामान्तरम्। अहञ्च स्पष्टं वक्तुमिच्छामि - यद् देवा न ब्राह्मणाः, न च क्षत्रियाः नापि वैश्याः, न चापिशूद्राः। वर्णाश्रमधर्मबहिर्भूताः ते। ममैवं केवलं नाशयः भगवान् जैमिनिः अपि षष्ठेऽध्याये प्रतिपादितवान्। अतोऽत्र सर्वेषामेव समानाधिकारः प्रीतिसमुद्भवे कारणम् अपि अस्माभिः अन्वेष्टव्यम्। हेतुमन्निगदाधिकरणसिद्धः अयं न्यायः 'न हि भूते भाविनि वा' इति, ''शूर्पेण जुहोति'', ''तेन ह्यन्नं क्रियते'' इति विधयशूर्पगतप्राशस्त्यद्योतने एव वर्तमानकालस्य तत्र प्रयोगे तात्पर्यं न तु भूते भाविनि वा पदार्थे वैरस्यबुद्धिसमुत्पादने। कामम् आधुनिकानां वैज्ञानिकदिशा उच्चावचम् आविष्कृतानां पदार्थानां चमत्कृतिजनकता अनुभूयतां लोकैः, किं तु वास्तविकस्थित्यपलपनं न योग्यं लोकानाम्। वर्तमानकालम् आश्रयन्तः अपि लोकाः सिंहावलोकनन्यायेन भूते भाविनि च दृष्टिं निदध्युः। अप्रतिहतया गत्या गच्छन् अपि पञ्चाननः मुखं परिवृत्य पश्चाद् अपि विलोकयति, पुरः च पश्यन् अग्रे गच्छति। प्रगतिशीलैः सर्वैः भवितव्यम् इत्यत्र न कश्चन सन्देहः। किन्तु पूर्वापरसन्दर्भपर्यवेक्षणम् अपि आवश्यकम्।

जैमिनिरयं प्राधान्येन निष्कृष्टं वेदवाक्यार्थं विविधैर्न्यायैः प्रदर्शयितुं शास्त्रमिदमारभमाणो वेदस्य वैदिकसंस्कृतेश्च लोकेन सह विद्यमानसम्बन्धनैकट्यं क्वचिद् वैदिकैः क्वचिच्च लौकिकैरुदाहरणैरवद्योत्य लोकान् शिक्षयति। सूत्रकारः 'लोकवत्', 'यथालोके', 'लोकभूतेषु', 'लोके कर्माणि वेदवत्' इत्येवं शतशः पदानि प्रयुज्यानौ वेदस्य न केवलं लोकसाधारण्यं प्रदर्शयति, अपितु सम्प्रति भारतीयैः स्वीकृतं 'प्रजातन्त्रविधानं' परिपुष्णाति।

अर्थवादाधिकरणे '**अन्यानर्थक्यात्**' (1.2.4) इति सूत्रेण 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामनवाप्नोति, तरति मृत्युं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेव वेद' इत्यादिवाक्यानामप्रामाण्यमाशंकितम् अग्निसिध्यर्थं क्रियमाण आधाने विहिता पूर्णाहुतिः। अनयैव सर्वेषां कामानामवाप्तौ सत्यां बह्वायाससाध्यानि दर्शपूर्णमासचातुर्मास्य ज्योतिष्टोमादीनि कर्माण्याचरितुं कथं लोकानां प्रवृत्तिः स्यात्? इमानि कर्माण्यनर्थकानि भवेयुः, बहूनां कर्मणामानर्थक्यापेक्षया एकस्यैवार्थवाद-वाक्यस्याप्रामाण्यं समुचितम्। अत एतादृशं वाक्यम् अनर्थकम् इति पूर्वपक्षिणः आशयः। अस्याः शंकायाः निराकरणसूत्रम्—'**फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिणामतः फलविशेषः स्यात्**' (1.2.17)। तमिमं दृष्टिगोचरेण लौकिकदृष्टान्तेन घटयति— ''लोकवत्परिणामतः'' इति। सेवातारतम्येन लोके भृत्याः फलतारतम्यमनुभवन्तीति वयमनुभवामः। ''सर्वान् कामानवाप्नोति'' इत्यत्रापि सर्वशब्दोऽवगन्तव्यः। एवं ब्रुवतो जैमिनेर्न किमपि वैशिष्ट्यं प्रतीयत इव प्रतिभायात्, किन्तु जैमिनेर्हृदयं प्रविश्य पर्यालोच्यमानेऽत्र निगूढं तत्त्वं किञ्चित् प्रतीयेत् सम्प्रति स्वीकृतप्रजातन्त्रविधाने स्वतन्त्रभारते सर्वोऽपि स्वातन्त्र्यमात्मनो मन्यमानः सहसैवान्यसमतामवाप्तुं चेष्टते। तदर्थं कलहमाचरति। संघं संघट्टयति, धर्मघटञ्च विदधाति। शासनसूत्रं विच्छेदयितुं प्रयतत इति

प्रत्यक्षमीक्षामहे। तदत्र जैमिनिरनुशास्ति—'**फलस्य कर्मनिष्पत्तेः**' स्वतन्त्रभारते मानवमात्रस्य राष्ट्रपतिपदं राज्यपालपदं प्रधानमन्त्रिपदं वा लब्धुमस्त्यधिकार इत्येतावता न सर्वैः लब्धुं शक्यम्। तत्तदौपयिक-सामग्रीसम्पादनं खलु प्रथममावश्यकम्। फलकामनातः पूर्वं तत्साधनेषु कर्मसु स्वस्याधिकारोऽस्ति न वेति विचिन्तनीयम्। विचिन्तनमिदं ज्ञानम् तत इच्छा ततो यत्नः ततः कर्मसम्पादनम्। फलन्तु स्वत एव निष्पद्यते। एवञ्च प्रजातन्त्रे जनतया स्वीयं कर्म कार्यासमीपं वा स्वतन्त्रं वा यथावदाचरणीयम्, तदनुसारेण तत्र तत्र नियतं फलमवाप्तव्यमिति न्यायोऽयं शिक्षयति।

इयमेव विशदयत् जैमिनिः तृतीयाध्यायस्याष्टम पादे सूत्रयति—'**तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत्**' (3.8.9) इति। ज्योतिष्टोमे दीक्षितव्रतं श्रुतम् - पयोव्रतं ब्राह्मणस्य, यवागू राजन्यस्य, अभिक्षा वैश्यस्य, इति दीक्षा समये ब्राह्मणेन यजमानेन पयोव्रतं कर्त्तव्यम्। यवागूव्रतं राजन्येन, अभिक्षाव्रतं वैश्येन। तेन तेन तस्य तस्य भक्षणं कर्त्तव्यमित्यर्थः। पय आदिव्रतेन यजमानो यद्यात्मनश्शरीरस्य शोषणं निश्चिनुयात् तर्ह्यनुव्रतमाम्नातम्—'यदि मन्येतोपदस्यामिति ओदनं धानाः सूक्तून् घृतनित्यनुव्रतयदात्मयोऽनुपदासाय' इति ओदनधानादि-व्रतमनुव्रतम्। अनेन लोकदृष्टान्तेन जैमिनिः अस्मान् अध्यापयति यत् सम्प्रति भारतीयैः कृत्रिमेण स्वाभाविवेन वा अशनवसनाद्यभावजनितक्लेशेन यद्दुःखं सुखोपभोगप्रतिबन्धकम् अनुभूयते तन्निराकरणं तपसाऽनशनेन साधनेन कर्त्तव्यमिति ज्योतिष्टोमेऽनशनमिदं याजमानम् यजमान एव स्वगतस्वर्गादिसुखोपभोगप्रतिबन्धकदुःखनिरासाय अनशनं करोति, तत् लोकोऽपि अशनवसनादिसुखोपभोग-प्रतिबन्धकतदभावजनितदुःखनिरासं यजमानस्थानापन्ना राष्ट्रपतिराज्यपालप्रभृतयः कुर्वन्तु इति प्रश्नस्योत्तरं जैमिनिस्स्वयं ददाति—"**वचनादितरेषां स्यात्**" (3-8-11) इति सूत्रेण। न हि अनशनं याजमानमेव-किन्त्वन्येषामपि। अशनवसनन्यूनतापिशाचिकायाः समुत्सारणं सर्वैः सम्भूय कर्त्तव्यम्। सर्वेऽपि भारतीयाः प्रतिमासमेकमहर्यद्यनशनं तपः कुर्युः, न तर्हि अशनवसनन्यूनतायाः अवसरः स्यादिति जैमिनिः शिक्षयति।

किञ्च अस्माकं भारतस्य यत्प्रजातन्त्रविधानं तत्सत्रात्मकम्। सत्रे च सर्वे भवन्ति यजमानाः। त एव सम्भूय अध्वर्यु-उद्गातृ-होतृ-ब्रह्मादि कार्याणि कर्त्तुं योग्यानामृत्विजां चयनं कुर्वन्ति। गृहपतिञ्च कञ्चन नियुज्यते। अध्वर्युहोत्रादीनां प्रत्येकं सहायकास्त्रयस्त्रयो भवन्ति। तस्य तस्य योग्यतां निर्द्धार्य तत्तत्कार्ये योग्यान् सञ्चिन्वन्ति। एतेषां कर्मसु न्यूनाधिकभावेन तरतमभावोऽस्त्येव, तथापि कर्मजन्यफलोपभोगे न न्यूनाधिकभावः। यावदेव फलं गृहपतिपदे नियुक्तः प्राप्नोति तावदेव अध्वर्यादयः तत्सहायकाश्च प्राप्नुवन्ति। किन्तु चयनावसरे सर्वेऽपि जागरूका भवन्ति, यथायथं तत्तत्कार्यसंपादनक्षमतां सुपरीक्ष्य सच्छीलं तत्तत्कर्मणि नियुञ्जते। अत्र नियोक्तारोऽपि त एव, त एव च नियोज्यः नियोक्तृत्वेन महत्त्वबुद्धिः, नियोज्यत्वेन लघीयस्त्वबुद्धिर्न भवति। सर्वे समाः सर्वे च तुल्यफलभाजः सर्वे च यजमानसंस्कारसंस्कृता भवन्ति। व्यवहारे च मुख्यत्वामुख्यत्वकृतस्तु भेदो भवत्येव। तथापि कर्मजन्यं स्वर्गादिकं फलं तुल्यमेव। विषयोऽयं जैमिनिना द्वादशाध्यायस्य चतुर्थपाद चतुर्दशाधिकरणे सुनिरूपितः। स्वतन्त्रभारते वयमेव नियोक्तारो नियोज्याश्च। तदैव खलु प्रजातन्त्रस्य प्रजातन्त्रत्वं सिध्यति '**सर्वे च तदर्थत्वात्**'।

'नष्टाश्वदग्धरथ' न्यायं तार्तीयप्रकरणाधिकरणेन "**फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्**" इति न्यायं चातुर्थिकप्रजापतिव्रताधिकरणेन च साधयन् महर्षिः जैमिनिः प्रजातन्त्रविधेः स्वरूपं यथायथमवबोधयति। तथाहि—दर्शपूर्णमासौ स्वर्गार्थेन विहितौ 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति। स्वर्गे फले जननीये दर्शपूर्णमासयोः प्राधान्यम्, तत्र तादृशफलजननशक्तिरनादितस्सिद्धा। तत्रत्या शक्तिः नास्माभिः समुत्पादनीया, सा हि वेदवाक्यप्रामाण्येन तत्र स्वतो नियता। किन्तु सा फलं जनयितुं अनुग्राहकानपेक्षते। अयमेव न्यायश्चतुर्थे प्रजापतिव्रताधिकरणे '**तथा च लोकभूतेषु**' (4.1.6) सूत्रतया महर्षिणा 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्' इत्येवं विशदीकृतम्। अनयोः न्याययोः उपयोगस्तु – राष्ट्रपतित्वेन वृतः प्रधानन्यायाधीशस्य सन्निधौ शपथं ग्रह्णाति – राष्ट्रमिदं न्यायेन यथा जनताकल्याणाय सञ्चालयामीति। राष्ट्रपतेः सन्निधौ च प्रधानमन्त्री तत्सहायका अन्ये मन्त्रिणश्च तथैव शपथं गृह्णन्ति। नियतं स्वस्वपदमधिरुह्य कार्याणि चालयन्ति। तत्तत्कार्यसञ्चालने इमे मुख्याः तादृशीं शक्तिञ्च विभ्रति। शक्तिमन्तोऽपि जनतासाहाय्यं विना फलं जनयितुं न प्रभवो भवन्ति। दर्शपूर्णमाससन्निधौ श्रुतानि प्रयाजादीन्यङ्गानि फलजननौपयिकान्येव, किन्तु फलजननाय आग्नेयादयः प्रधानयागास्तैरनुमताः, अतस्तत्रत्यशक्तिसमेधकत्वेनैव फलजनने तैर्वर्तितव्यम्, न तु स्वातन्त्र्येण तथैव प्रजातन्त्रविधाने देशसमाजोत्थानानुकूलकार्यसम्पादनाय प्रधानमन्त्रिप्रभृतयो जनतया नियुक्ताः अधिकारवन्तोऽपि ते स्वातन्त्र्येण तानि तानि कार्याणि सम्पादयितुं विना जनतासाहाय्यं न शक्नुवन्ति। जनतापि अधिकारीविहीना स्वातन्त्र्येण न किमपि सम्पादयितुं शक्नोति। नियुक्तमन्त्रिणां साहाय्यप्रदानेन फलसम्पादनकार्ये तथा प्रवर्तितव्यमिति द्वयोरपि न्याययोस्तात्पर्यम्। किञ्च स्वतन्त्रभारते लिखितुं भाषितुञ्च जनतायाः स्वातन्त्र्यमस्ति न तु स्वाच्छन्दम्। प्रायः पृच्छन्ति लोकाः लिखन्ति च प्रधानमन्त्रिणा मन्त्रिभिश्च प्रवर्तितासु बह्वीषु पञ्चवर्षीययोजनासु काश्चन् विफला अजायन्त प्रभूतस्यद्रव्यस्य अपव्ययो जातः, तैदेव द्रव्यमिदं अपहृतम्। विषयमिमं निर्धारयितुं न्यायाधीशानां समितिः काचन नियोक्तव्या, मन्त्रिणश्च दण्डनीयाः, पदाच्च ते च्यावयितव्या इति। सत्यमत्रास्त्ययमधिकारो जनतायाः। अस्मिन् विषये जैमिनिः किमभिप्रैति किं वानुशास्तीति पश्यामः। षष्ठाध्यायस्य चतुर्थपादे पञ्चमाधिकरणसिद्धः कश्चन न्यायः। तत्र 'यस्य पुरोडाशः क्षायति तं यज्ञं निर्ऋतिर्गह्णाति, यदा तद्धविः सन्तिष्ठते अथ तदेव हविर्निर्वपेत्' इति श्रुतम्। क्षायति—'अतिदग्धो भवतीत्यर्थः। अतिदाहेन कृष्णीभावोऽत्र विवक्षितः। हविषोऽतिदाहे निमित्ते हविरन्तरनिर्वापरूपं प्रायश्चित्तं विदधातीदं वाक्यम्। अत्र सन्देहो जायते – किमिदं प्रायश्चित्तमेकदेशदाहेऽपि कर्त्तव्यम्? उत कृत्स्नदाह एव? इति। तत्रेदं सिद्धान्तसूत्रम्— "**क्षामे तु कृत्स्नदाहे स्यादेकदेशस्यावर्णनीयत्वात्**" इति। कृत्स्नदाहे क्षामे निमित्ते प्रायश्चित्तं हविरन्तरोत्पादनम्। प्रायः नष्टस्य चित्तं सन्धानं प्रायश्चित्तमित्यस्यार्थः। क्रतुषु ब्रह्मा पर्यवेक्ष्य प्रायश्चित्तं विदधाति। तद्वदत्रापि ब्रह्मस्थानीया पर्यवेक्षणसमितिः प्रायश्चित्तं विदध्यात्। कीदृशं तत्प्रायश्चित्तमत्र भवितुमर्हतीति जैमिनिन्यायेन विमृशामः। जैमिनिरत्रानुशास्ति—"**गुणे त्वन्याप्यकल्पना**" इति। गुणे उपसर्जने, अन्याय्यकल्पनादोष-कल्पनेति सूत्रार्थः। अयं न्यायः नावमिकपाशाधिकरणसिद्धः।

एवं प्रजातन्त्रसत्रे भूयस्सु सत्रन्यायेषु प्रवृत्तेषु दीक्षितनियमपरिपालनन्यायोऽपि प्रवर्त्तते। सोऽप्यनुसरणीयः प्रजातन्त्रसत्रे दीक्षितैः। दीक्षितस्य नियमेषु "दीक्षितो न ददाति न जुहोति न पचति" इत्यादयः सन्ति नियमाः। दानहोमपाकाः पुरुषार्थतया विहिताः केचन, अपरे च क्रत्वर्थतया विहिताः ते, अन्ये च अतिदेशेन विकृतौ समायान्ति। किमत्र सर्वेषां निषेधः? उत अतिदिष्टानां पुरुषार्थानाञ्च निषेधः? अथवा पुरुषार्थानामेव? इति त्रेधा सन्दिह्य सिद्धान्तितम् - पुरुषार्थानामेव दानहोमपाकादीनां प्रतिषेध इति दशमाष्टमेऽष्टमाधिकरणे। अनेन-न्यायेन प्रजातन्त्रसत्रे दीक्षितैरपि पुरुषार्थदानहोमपाकादयो नाश्रयणीयाः। चात्मकल्याणार्थं क्रियमाणा दानहोमपाकादयः पुरुषार्थाः। देवकल्याणार्थं क्रियमाणा इमे क्रत्वर्थतुल्याः। प्रजातन्त्रे प्रधानमन्त्रिपदे वा मन्त्रिपदे वा दीक्षितः आत्मार्थं स्वकुटुम्बार्थं वा दानहोमपाकादीन् न कुर्यात्। क्रत्वर्थदानहोमपाकादीनि दीक्षितस्य यथानुमतानि, तथैव देशकल्याणाय विहितान्येव प्रजातन्त्रदीक्षितस्य।

किञ्चात्र लिप्साधिकरणन्यायोऽपि ध्यानमर्हति। द्रव्यार्जने सन्ति नैकविधा उपायाः-साधवोऽसाधवश्च। व्यक्तिभेदेन इमे उपायाः नियम्यन्ते प्रतिग्रहादिना एव अर्जयेत्, जयादिना एव अर्जयेत्, पशुपालनादिना एव अर्जयेत्। तत्र हि पुरुषो नियमपुरस्सरं यद्द्रव्यमर्जयति तत्किं क्रत्वर्थम्? उत पुरुषार्थमिति विचारः प्रवर्तितः। पूर्वोक्ता नियमाः क्रत्वर्थत्वे एव द्रव्यार्जनस्योपपद्यन्ते। प्रापञ्चिकसुखोपभोगाय यथाकथञ्चिदर्जित-स्यापि द्रव्यस्य विनियोगो भवितुमर्हतीति तत्र नियमो नावश्यकः। नियमस्तु श्रूयते। स च क्रतुसम्बन्ध एवोपपन्नः। अतो नियमेनार्जितं द्रव्यं क्रत्वर्थमिति पक्षः। क्रत्वर्थस्य तस्य क्षुन्निवृत्त्यादिलौकिककर्मोपयोगित्वं कथमिति प्रश्ने जीवनाभावे क्रतुनिर्वर्तनमेव असम्भवीति जीवनार्थत्वमप्याक्षिप्यते इति न दोषः। अतः क्रत्वर्थं द्रव्यम्। सिद्धान्तस्तु पुरुषार्थमिति।

एवं स्थिते प्रजातन्त्रस्य न्यायस्येति पश्यामः - पवित्रस्य क्रतोः स्थानापन्नं प्रजातन्त्रविधानमिति। लोके नानाविधेषु पुरुषकार्येषु प्रजातन्त्रविधानम् अपि एकं कार्यम्, सर्वाः प्रजा मिलित्वा देशस्य कल्याणाय संकल्पितमिदं विधानम्। विधानस्यास्य परिचालनाय जनतया नियुक्ताः विधायका यत्कार्यमाचरन्ति तत्क्रतुरूपं परमं पवित्रम्। न्यायेन यथा धनमर्जयितुम्, उपायान् निर्धारयन्ति। अर्जितस्य द्रव्यस्य पुरुषार्थस्य कियान् भागेः क्रतौ वा निषिद्धोपायार्जितद्रव्यस्य विनियोगः तावल्लिप्साधिकरणन्यायः।

निषिद्धोपायार्जितञ्च द्रव्यं न तावत्क्रतौ विनियोक्तुं शक्यते। किञ्चायं न्यायः जीवनाय आहारः, न तु आहाराय जीवनमिति शिक्षयति। यावता द्रव्येण जीवनं निर्वहेत् तावन्निक्षिप्य अवशिष्टं क्रतुषु विनियोक्तव्यम्। प्रजातन्त्रविधाने च ईदृशं सच्चारित्रं शिक्षयत्ययं न्यायः। जनता वा तथा नियुक्ताः प्रतिनिधयः वा प्रधानतया देशभक्तिं दैवचिन्तनञ्च कुर्वन्तः प्रजातन्त्रविधानं परिपालयेयुरिति जैमिनिरनुशास्ति।

एतावता न्यायसन्दर्भेण इदमत्र निर्गलितं भवति यत् - तादृशं प्रजातन्त्रविधानमवलम्बनीयं यत्र चार्थकामयोः पुरुषार्थयोः एवोन्नयनं न स्यात् किन्तु संस्कृतेरपि भूयान् तत्र सम्बन्धः स्यात्। यावदर्थकामौ

संस्कृत्या न संयुज्येते तावदर्थकामौ न सुदृढौ स्याताम्। संस्कृतिपदेन नात्र वेषभूषादिकम् अभिप्रेयते, किन्तु चरित्रसंरक्षणम्, चिरन्तनैः प्रवर्तितानामनुशासनानां यथायथं परिपालनम्, विधिप्रतिषेधयोरनुसरणम्, यथाधिकारं स्वस्वकर्माचरणे अभिरतिः, पक्षपातपरित्यागः, सत्युपादेयत्वे प्रतिपक्षिणामपि पक्षग्रहणम्, देशभक्त्या कर्माचरणम् दैवचिन्तनम्, सच्छीलता पापभीरुता, शरीराभिमानराहित्यम्, इत्यादयोऽभिप्रेयन्ते। एतेषामवलम्बनेनैवार्थकामयोः समुन्नयने यतितव्यम्। सर्वेषु विषयेषु जैमिनिन्याया वर्तन्ते। न्यायानां पुनः सर्वैः नतमस्तकैः भवितव्यम्। यथेच्छं तत्परिवर्तने समुदायबलमस्तीति न प्रवर्तितव्यम्। इदमस्माकं प्रजातन्त्रविधानं जैमिन्यनुमतम्।

अतः व्यवहारदशायां भट्टमतावलम्बनेन जगते महत्त्वं स्वीकृत्य समाजे प्रजातन्त्रविधानेन समत्वदृष्टिं प्रसारयितुम् अस्ति अवसरोऽस्मिन् मते साधूक्तं दीक्षितैः—

त्यक्तव्यो ममकारस्त्यक्तुं यदि शक्यते नासौ।
कर्त्तव्यो ममकारः किन्तु स सर्वत्र कर्त्तव्यः॥

अस्मिन् मते वर्णाश्रमधर्मपरिपालनं नियतम्? तथापि न समाजे मिथो वैषम्यबुद्धेः प्रसरः। यथाधिकारं यथामर्यादं च स्वं स्वं कर्म समाचरन् मानवः सर्वोऽपि सम एव भवति न विषमः। अधिकारस्य मर्यादायाश्च अतिक्रमण एव वैषम्य बुद्धेः समुद्भवः। **"लोकवत् परिणामतः फलविशेषः स्यात्"** इति जैमिनीयन्यायेन विना मर्यादाभङ्गं विना चाधिकारातिक्रमणम् सर्वेऽपि अस्मिन् तन्त्रे लोकतन्त्रे सम एव। मीमांसा हि विना पक्षपातेन परीक्षणव्यापरवती। उक्तं भट्टपादैः—

यत् साधकतमत्वेन कस्यचित् किञ्चिदुच्यते।
तस्य ह्यनुग्रहापेक्षा न स्वशक्तिविधातिनी॥

न ति तत् कारणं लोके वेदे वा किञ्चिदीरितम्।
इतिकर्त्तव्यतासाध्ये यस्य नानुग्रहेऽर्थिता॥

इतिकर्त्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति इत्यत्र नैकविधासु इतिकर्त्तव्यतासु विचारोऽपि अन्तर्भूतः। स च प्राचीनग्रन्थपरामर्शमुखेनैव कर्त्तव्यः। एवं रूपेण मीमांसानयसम्मतं लोकतन्त्रं स्पष्टीभवति।

The Concept of Truth with Special Reference to Madhusūdanasarasvatī

—Professor V.Kutumba Sastry

As in the case of most of the philosophical terms, it is very difficult to find an exact synonym of the English term ''truth'' in Samskrit. The only probables are ''*sat*'' and ''*satya*'' However, these terms in Samskrit predominantly signify the sense of ''*reality*'' rather than the sense of ''truth''. That is why the Ultimate reality is defined as ''*satyam*'' in the *Upaniṣads*, The term ''truth'', to the best of my limited knowledge, is used to signify what is known as the counter correlative of ''*error*'' in the context of Western philosophy. Though ''*yathārthajñāna* and ''*pramā*'' are the two Sanskrit terms which signify the sense of counter correlative of the English term ''error'', the term ''*satya*'' is also used occasionally in the sense of counter correlative of the erroneous objects, Thus Śaṅkara says ''*satyānrte mithunīkṛtya*'' in the *Adhyāsabhāṣya*. However, whatever be held as the ultimate reality according to any school of philosophy in the east and west it can not surely be an erroneous entity. It ought to be something other than the erroneous. In this sense, the term ''truth'' can also be held as signifying the ultimate Reality or Reality in general. It is in this light that the terms ''*sat*'' and ''*satya*'' may be held as the synonyms of the term ''truth'' both from the point of view of epistemological and metaphysical/ontological connotations. However, one should not loose sight of one fact that the term ''truth'' is seldom used in the sense of ontological reality in the western philosophy, whereas it is frequently used so in the context of Indian philosophy.

In the context of Advaitavedānta, however, the above problem of translation appears to be much insignificant. For, according to their system, Brahman is the only entity which is held to be ''*satya*'' and every entity other than that is held to be ''*anṛta*'' i.e. erroneous. [Hence, the term ''*satya*'' signifies only one thing both epistemologically and ontologically]. It is for this very reason that truth is a relative concept for them in the epistemological framework, when it is experienced in any

entity other than the Brahaman. In the metaphysical framework when it is used with regard to the Brahman, of course, it is an absolute concept. For Advaitins any object which is epistemologically true need not be so ontologically. By holding this basic difference from other theorists, they were successful in offering the most scientific and rational theory of *anirvacanīya khyāti*, which resolved many problems in explaining erroneous cognition where others have failed.

For Advaitin the objects of any cognition are true epistemologically during the experience of the cognition. Surprisingly, even the so called erroneous objects such as shellsilver and rope-snake are also true for him epistemologically during the period of their experience. That is why the person who experience the rope-snake reacts exactly the same way when he experiences a real snake. His contention is only that such erroneous objects are not true ontologically or metaphysically. Extending the analogy of rope-snake he contends that the world around us is also true epistemologically and not true ontologically or metaphysically. In this way he offers most scientific and rational reconciliation of the Upaniṣadic statement that everything other than the Brahman is non-real and the experience of the common man that it is real.

As against this position of the Advaitins, most of the other theorists hold that whatever is held to be true epistemologically should also be held as true ontologically. This basic difference of opinion lead them to argue that ontological truthfulness of the objects is simultaneously experience while such objects are cognised by the senses. Therefore, they argue that the establishment of non-reality (*mithyātva*) of the worldly object by the Advaitins on the basis of inference is not valid as the truthfulness of the worldly objects such as pot is known through the perception which is a stronger source of knowledge than inference. In this background a long and hairsplitting debate took place between the Dvaitins and the Advaitins to examine the issue of truth. Dvaitins, who contend that the truth of pot is simultaneously cognised when pot is cognised through perception, are asked to define the "truth" which is 1) perceivable by the sense organs when pot-like objects are perceived and 2) which stands in opposition to the indeterminability (*mithyātva*) of the objects according to their system. In this context, Madhusūdana Saraswati examines all possible alternatives.

Fist of all, "To be an object in the Valid knowledge" (pramā-viṣayatvam) is suggested as the definition of truth. This definition is not good as it does not satisfy the first condition stated above, as the validity of knowledge is something which is not cognised by the senses. Secondly, Valid knowledge has to be defined as "the one in which true entities are cognised as objects." Therefore, mutual interdependency takes place. Thirdly, no source of knowledge can cognise a non-entity (asat) i.e. objects like sky-lotus etc. This implies that an object should be true even before it becomes an object of valid cognition. Therefore, truth should be held as a presupposition of valid knowledge. Hence, to define truth as to be an object of valid knowledge is not possible. Fourthly, according to the school of *anyathākhyātivāda*, (of Naiyāyikas) the relation between the shell and shell-silver, which is held to be a non-entity, is also congnised simultaneously when shell-silver is cognised. It is also cognised as a constituent part of *anuvyavasāya* knowledge through *vyavasāya* knowledge. As per the system of Nyāyavaiśeṣika, anuvyavasāya is valid knowledge (*pramā*). Hense, the definition "to be an object in valid knowledge" overapplies in the relation between shell and shell-silver which is held to be not true but a non-entity. Further, the said relation is also cognised as an object in the sublative cognition which is a valid knowledge. Therefore, this definition of truth is defective in more than one way.

Similarly, the definition, "not to be an object in erroneous cognition" (*bhrama-aviṣaytvam*) is also defective because there is no entity which, in one way or the other, does not become object in one or the other erroneous cognition. For example, Buddhists consider every entity as momentary whereas other consider most of the entities as non-momentary and some of them as eternal. Now, from the point of view of either of these two schools every entity is an object of some or the other erroneos cognition. Therefore, there can be no entity which does not become an object in any of erroneous cognitions. Hence, this definition does not have an example to show and hence defective. For similar reasons, there is no advantage of adding one or the other adjective to the above two definition. Since the qualificund part of the definition itself is defective, as shown above, no purpose be served by appending qualificative parts to those defective definitions. To put it in simple way, adding any qualificative term does not turn an otherwise defective definition as non-defective.

Now, an attempt is made to define the truth on the basis of accepted definition of error. The accepted definition of error is, "an all time negation of truthfulness in a substratum where it has been once cognised". On the basis of this accepted definition of error, it can be said that the "absence of the said negation" (*pratipannopādhau traikālikasattvaniṣedha-virahaḥ*) is truthfulness. But this attempt is also futile because it results in self dependency (*ātmāśraya*).

Three more definition of truth are possible. They are : 1) The universal (jāti) called "sattā" (sattājātiḥ), 2) To be an accomplisher of purposeful action or to be of practicial utility (arthakriyākāritvam). 3) To be other than a non-entity (asadvilakṣaṇyam). Now, with regard to this set of three definitions, it may be noted that the truthfulness as defined by them is cognisable through our senses. It is accepted that the universal of any object is cognised by the same sense organ by which the object itself is cognised. Following this, the *sattā* universal is cognisable by our eyes as the particulars which possess the said universal are perceivable by our eyes. Similarly, the aspect of practical utility of any object is also cognisable through the senses. Likewise, whether an object is other than a nonentity is also cognisable through the senses. The *Pūrvapakṣin* considers that these definitions stand in opposition to "indeterminability" i.e. *mithyātva*. But, the Advaitin observes that they are not in opposition to the theory of indeterminability. He clarifies that he too accepts that the world around us possesses *sattā*-universal and is of practical utility and is other than non-entity objects such as sky-lotus. This makes us understand that an object can possess the *sattā*-universal and be of practical utility and be other than nonentity objects; yet it need not be true.

Now, another set of two definitions is attempted on the basis of relationship with the time. First of all, truthfulness is defined as "to be a direct object in a valid cognition of present tense (*astitva-prakāraka-pramāṁ prati kadācit sāṣāt viṣayatvam; ... astitvaṁ ca vartamānatvam*). Secondly, "to be related with time." (*kālasaṁbandhitvam*). Advaitin observes that these two definitions also do not stand in opposition to the indeterminability (*mithyātva*). Because, an object of valid cognition of present time need not be true as erroneous cognitions also are treated as valid cognitions during their occurrence i.e. in the present tense. Similarly, erroneous objects such as shell-silver also stand to be related with time during their cogniton. The sublating cognition merely reveals all-time absence of relation with

the "true" time. To define truth as "to be related with true time" is also not possible because the issue of "truth" still remains as an unsettled question.

Therefore, truth can only be defined as "not to be a counter-correlative in any of the absences which collocate with the object in question" (*svasamānādhikaraṇayāvadatyantābhāva-pratiyogitvābhāva-rūpameva sattvam upeyam*). To put it in simple language, a thing, any kind of absence of which is not all perceived in a locus where the said thing is perceived" is true. Obviously, truth as defined by this definition is not perceivable through senses as "all absences" include past and future absences also. Therefore, truth which is definable is not perceivable and what is perceivable is not true and not in opposition to the indeterminability. Hence, the contention of the opponents that truth-fulness of objects is given in our perceptional experience of things and as a result of it indeterminability (*mith yātva*) of the world can not be established by inference does not withstand critical examination.

This long discussion drives a philosophical point home that appearance of the world as true does not come in the way of inferring its falsity. The truthfulness of the world which is apprehended in perception is not absolute but relative in nature. This makes it clear that what is epistemologically true need not be so ontologically. In fact epistemology cannot be called upon to decide the content of it either *as* sat or *asat*. Therefore, the Advaitins start straight way from their experience and examine all the four possibilities with regard to the content of error, namely. 1) real 2) unreal 3) both real and unreal and 4) neither real nor unreal and uphold the last one. It is nothing but indeterminability as real or unreal i.e. *mithyātva* of the empirical objects. This position offers a solution to the problem of error.

According to Advaitins the things experienced in an erroneous cognition cannot be real, because if they were so, they would not be contradicted or sublated afterwards; nor can they be unreal, for, in that case, they would never have been presented, For, a skylotus or a barren woman's son is never presented in anybody's cognition at any time. It means that error points to a thing that is precisely like what it appears, but is yet not charaterisable as either is or is not (*sadasadanirvacanīya*). Advaitins assure an objective content for error. For him error points to an objective factor as surely as truth. But. he realizes that the said factor in error, owning to its later sublation, cannot be the same as the corresponding object of ordinary experience which is not thus sublated, and that it must therefore be explained in a different

way, granting it a lesser reality, namely, *prātibhāsika*-level of reality instead of higher one, namely, *vyāvahārika*-level of reality.

Prof. Hirianna writes : "The point of importance in the Advaitic view is that in all knowledge, including error, there is complete correspondence between it and its content. This does not mean that all the elements given on the objective side are equally real, but only that no part of what knowledge reveals is sheer non-being. These may be disparity in the nature of these elements when we take into account the whole content of erroneous knowledge for, while some like the 'this' aspect of the object in contact with the organ of sight and its sinuous nature are necessarily real, other may be unique in the sense explained above. But the latter, though not physically real, are felt as confronting the mind and cannot therefore be absolute nothing. Ture knowledge, by contrast, is that whose content is free from such unique presentations. ...Accordingly knowledge is true, when no part of its content has to be discarded as false, that is, when it does not come into conflict with the rest of our experience, but harmonizes with it. This signifies that it is non-contradiction or, to state the some positively, coherence with other experience, and not correspondence with reality, that makes it true. The rejection of the correspondence hypothesis does not mean the denial of the self-transcendent charactor of knowledge. It only means that as all knowledge, according to the doctrine, equally satisfies the condition of agreement with an objective conterpart, correspondence cannot be regarded as a distinguishing feature of truth."

We should not loose sight of a fact that an erroneous judgment also stands valid until it is sublated by another judgment. Now, a question arises as to how a judgment can sublate another one. What should be the criteria for one judgment to be stronger than the other? In the absence of any such criteria, a contingency arises as to how to decide which of the judgments sublates and which one gets sublated. To resolve these problems, we should hold that coherence between the experience of one's own self and the experiences of the larger group of people as the criteria for treating a judgment as stronger against another one. For example : among the two judgments in the case of erroneous cognition, namely, "this is snake" and "this is rope" the latter is coherent with other's experience and, therefore, be a stronger one to sublate the former one. Hence, truth is held to be public whereas error is private.

It may also be remembered that judgment even when it is supported by the coherence of the experiences of other's judgment, stands to be relatively true but not absolutely. Because, the same judgment can be sublated by a stronger coherent experience of others. Therefore, empirical truth is only relative in nature. As against this relative truth, Advaitins, however, accept an absolute truth which, according to them, is trans-epistemic concept, namely, the Brahman. Thus, Madhusūdana Saraswati defines sattva as." *svaprakāśa-advitīya-caitanya-rūpatvameva brahmaṇaḥ sattvam*". The *Upaniṣad* also defines Brahman as "*satyam*". From the point of view of this absolute truth, the empirical truth is, of course, an appearance only.

कालिदास की महत्ता में विद्योत्तमा का योगदान

–डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र
पूर्व कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत
विश्वविद्यालय, वाराणसी

यह आलेख लिखने से पूर्व मैं व्यक्तिगत निवेदन करना चाहूँगा कि मेरी दृष्टि में मौलिक एवं प्रथम कालिदास वह हैं जो उज्जयिनी-नरेश शकादि विक्रमादित्य एवं विदिशानरेश अग्निमित्र शुंग के समकालीन हैं तथा दोनों की राजसभा के सम्मानित कवि रहे हैं। अपने वृहत् प्रमाणपुष्ट आलेख **देवदत्त से कालिदास** में[1] तथा मौलिक नाट्यकृति **विद्योत्तमा** की भूमिका में मैने **इस कालिदास** के विषय में निम्न तथ्य प्रकाशित किये हैं–

1. कालिदास की जन्मभूमि संभवत: **कपिष्ठल** ग्राम थी जिसे आज **कविठा** कहा जाता है। यह स्थान वर्तमान गढ़वाल क्षेत्र में भागीरथी एवं मन्दाकिनी के बीच कालीमठ क्षेत्र में है।

2. कालिदास निश्चित रूप से शैशव में ही माता-पिता से वञ्चित होकर, किसी दयालु प्रतिवेशी द्वारा पाले-पोसे गये थे। यह सत्य उनकी प्रत्येक कृति में **'कृतकतनय'** के रूप में बरबस प्रकट हुआ है।

3. कुमारावस्था में (संभवत: 13, 14 वर्ष की वय में) बालक कालिदास को अपनी जन्मभूमि छोड़नी पड़ी और वह किसी विद्वान् आचार्य (सोमरात?) के साथ **रामगिरि-आश्रम** में आये जो वर्तमान में सरगुजा जनपद में, अम्बिकापुर-विलासपुर मार्ग पर प्राय: अम्बिकापुर से 35 कि.मी. दक्षिण में स्थित है। सम्प्रति इसे रामगढ़ कहते हैं। वस्तुत: यही मेघदूत के यक्ष की तप:स्थली भी है। मैं स्वयं तीन बार इस स्थल का निरीक्षण कर चुका हूँ।

4. रामगिरि-आश्रम में ही कालिदास (देवदत्त) की शिक्षा-दीक्षा, कुलपति सोमरात की कन्या सुतनुका से विवाह, गर्भवती सुतनुका की अकालमृत्यु एवं कुमार अग्निमित्र से देवदत्त की प्रगाढ़ मैत्री आदि घटनायें घटी।

1. सप्तधारा, सम्पूर्णानन्द सं. वि. वि. वाराणसी, 2004 ई.।

5. **सुतनुका** की मृत्यु से सन्तप्त एवं विरक्तप्राय देवदत्त को कुमार अग्निमित्र यथाकथञ्चित् विदिशा ले आये जहाँ उनको सेनापति पुष्यमित्र शुंग का सान्निध्य मिला।

6. ब्राह्मणकुमार देवदत्त के कवित्व एवं उदात्त चरित्र से प्रभावित सम्राट् पुष्यमित्र ने उन्हें अपनी पुत्री विदुषी **विद्योत्तमा** के लिये वरण किया तथा दोनों को परिणय-सूत्र में बाँध दिया।

7. महान् राष्ट्रभक्त, वैदिक धर्म एवं संस्कृति के रक्षक तथा चरित्र एवं खड्ग के धनी सम्राट् पुष्यमित्र अपने पुत्र कुमार अग्निमित्र की विलासिता से अत्यन्त उद्विग्न एवं दुःखी थे। पश्चिमोत्तर सीमा पर भी उन्होंने अपने यज्ञाश्व की रक्षा के लिये पौत्र कुमार वसुमित्र को ही नियुक्त किया था, अग्निमित्र को नहीं।

परन्तु अपने जामाता देवदत्त के आग्रहवश ही उन्होंने सम्राट् विक्रमादित्य की पुत्री **मालविका** के साथ अग्निमित्र का प्रणयमूलक परिणय स्वीकार कर लिया था।

8. प्रारम्भिक चरण में तो विद्योत्तमा-देवदत्त का दाम्पत्य निर्विघ्न रहा। परन्तु सुतनुका-वृत्तान्त से अनभिज्ञ, स्वाभिमानिनी विद्योत्तमा को, एक अवसर पर सब कुछ ज्ञात हो गया और उसे लगने लगा कि देवदत्त अभी भी सुतनुका में ही समरस एवं विलीन है। इस भ्रान्ति का कोई शमनोपाय देवदत्त के पास नहीं था। फलतः दाम्पत्यप्रणय में दूरियाँ बढ़ती गई।

9. इसी बीच, निराश एवं कुण्ठित देवदत्त को उज्जयिनी जाने का अवसर मिला। वह भगवती कालिका की आराधना में लीन हो गया अन्ततः उसे अप्रतिम प्रतिभा महाकवित्व एवं आत्मशान्ति का वर प्राप्त हुआ। भगवती से प्रेरित सम्राट् विक्रम ने भी देवदत्त को **कालिदास** उपाधि एवं **नवरत्न-मुख्य** के सम्मान से अलंकृत किया।

10. अन्ततः विद्योत्तमा को भी पति के निश्छल प्रेम एवं निष्ठा का बोध हुआ। चिरकालानन्तर, वियुक्त पति-पत्नी पुनः मिले पारस्परिक उत्कण्ठा, विश्वास एवं स्पृहा के साथ! दोनों **वागर्थ** की भाँति सम्पृक्त हो उठे। दोनों ने चिरकाल तक **अर्धनारीश्वर-दाम्पत्य** का भोग किया।

11. महाकवि ने देवदत्त के रूप में प्रारंभिक काव्ययात्रा की जिसे **ऋतुसंहार** कहा गया। कालिदास के रूप में उन्होंने क्रमशः मेघदूतम्, मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम्,

कुमार-सम्भवम्, रघुवंशम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् का प्रणयन किया। **मेघदूतम्** में उन्होंने सुतनुका एवं स्वयं को केन्द्र में रखा। मालविका एवं अग्निमित्र के प्रणयवृत्त एवं विवाह को लेकर उन्होंने **मालविकाग्निमित्रम्** लिखा। विक्रम के व्यक्तित्व को उजागर करने के उद्देश्य से **विक्रमोर्वशीयम्** लिखा कवि ने। शेष कृतियाँ उन्होंने भारतीय धर्म, संस्कृति एवं जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठापना हेतु लिखी। **अभिज्ञानशाकुन्तल** की पृष्ठभूमि में निश्चय ही पलायनवादी बौद्ध संस्कृति का तिरस्कार तथा उपनिषदों के **कर्मवाद** की स्थापना का दृढ़ संकल्प दृष्टिगोचर होता है। दोनों महाकाव्यों में भी भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों की प्रतिष्ठा है जो तपःपूत प्रेम की दिव्यता, गोसेवा-महिमा, शरणागतवत्सलता, सत्यसन्धता, लोकानुरञ्जन आदि के रूप में वर्णित हुए हैं।

कालिदासविषयक मेरी इन स्थापनाओं पर सहमत होने के लिये आवश्यक है मत्प्रणीत सम्पूर्ण कालिदास-साहित्य का अध्ययन। परन्तु इस आलेख में मैं केन्द्रित हूँ मात्र विद्योत्तमा से जुड़े कालिदास पर।

कालिदास एवं विद्योत्तमा के दाम्पत्य का सन्दर्भ एक जनश्रुति मात्र है, ऐसा अधिसंख्य विद्वानों का विचार है। इस **अर्धसत्य** की पुष्टि इतिहास से नहीं हो पाती, यह भी सत्य है। विशेषतः, पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में तो जनश्रुति अथवा किंवदन्ती का कोई मूल्य ही नहीं है।

परन्तु प्रख्यात भारतीय ऐतिह्यविद् कल्हण जनश्रुति को भी घटित इतिहास का स्रोत मानते हैं। "नाऽमूला जनश्रुतिः" अर्थात् जनश्रुति या किंवदन्ती निर्मूल (निराधार) नहीं होती। उसमें सत्य तो होता ही है। हाँ, सत्य लिपटा रहता है कुछ शंका-सन्देह, अतिशयोक्ति के विवर्तो में, जिन्हें समाज जोड़ देता है। विद्वान् समीक्षक का कर्तव्य है कि वह ऐसी जनश्रुति का, सत्य के निष्कर्ष पर, परीक्षण करे तथा निर्विवाद तथ्य को उजागर करे।

इसी दृष्टि से हमें विद्योत्तमा-सन्दर्भ पर भी विचार करना चाहिये। संभवतः इस जनश्रुति को शब्दबद्ध करने वाले प्रथम साहित्यकार मेरुतुंगाचार्य हैं जिन्होंने अपने कथाग्रंथ प्रबन्धचिन्तामणि में कालिदास को, प्रारम्भिक जीवन में एक मूर्ख सिद्ध करते हुए, राजपुत्री विद्योत्तमा के साथ उनके विवाह सम्पन्न होने तथा काली की कृपा से अखण्ड वैदुषी प्राप्त करने की बात कही।

जैन आचार्य तथा साहित्यकार प्रारम्भ से ही जनता के बीच रहे हैं। श्रमण-श्रमणियों तथा श्रावकों का दल नित्य संचरणशील रहता था। ये लोग अन्य सम्प्रदायों के साधु-संन्यासियों की तरह एकान्त, नदीतट, वन, पर्वत अथवा गिरिगुहा को न चुन कर, गाँव-गिराँव में ही विश्राम

करते तथा जनता को धर्मोन्मुख बनाते थे। यही कारण था कि इन्हें लोक में घटी घटनाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान था। ये लोग ऐतिहासिक वृत्तों के विश्वसनीय ज्ञाता होते थे। फलतः इनके द्वारा वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं पर, चाहे वह किसी सीमा तक विकृत ही क्यों न हो, सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता।

साम्प्रदायिक विद्वेष होने के कारण, कुछ जैन साहित्यकारों ने वैदिक परम्परा के महापुरुषों, नरपतियों तथा साहित्यकारों का चरित्र भले ही बदल कर लिखा हो (जो अश्रद्धेय एवं उद्वेजक हो) परन्तु उनसे जुड़ी सच्चाइयों को उन्होंने ईमानदारी से प्रकट किया है। एकपत्नीव्रतधारी मर्यादापुरुषोत्तम राम को परम भोगी-विलासी बताना (स्वयंभू-प्रणीत पउम चरिउ) कालिदास को मूर्ख कहना तथा परमर्दिदेव को अत्यन्त नृशंस वर्णित करना (प्रबन्धचिन्तामणि) इसी प्रकार के सन्दर्भ हैं।

कालिदास अपने युग में भी शिखरस्थ कवि थे। 15वीं शती में उत्पन्न आचार्य मल्लिनाथ सूरि किस सीमा तक उनके प्रति नतमस्तक हैं, यह उनके एक ही श्लोक से सिद्ध हो जाता है–

कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती।
चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नाऽन्ये तु मादृशाः॥

ऐसे कनिष्ठिकाधिष्ठित, वैदिक संस्कृति-पोषक, कालजयी कवि के लोकव्यापी यश से यदि कोई जैन साहित्यकार खिन्न होता है तो कोई आश्चर्य नहीं। संभवतः पूर्वाग्रहग्रस्त, द्वेषी मेरुतुंगाचार्य ने ऐसे महामहिमशाली कालिदास को निसर्गतः जड़ तथा देवकृपा से महाकवि बना सिद्ध कर अपनी भड़ास निकाल ली। परन्तु किसी राजकन्या के साथ उनके विवाह जैसी घटना की वर्णना–उनकी मिथ्या कल्पना नहीं हो सकती। यह एक ऐतिहासिक सत्य था, जिसकी समीक्षा की जानी चाहिये।

जनश्रुतियों में देश, काल तथा व्यक्तिविषयक विकृतियाँ लिपटती जाती हैं। आदि शंकर के साथ मण्डनमिश्र की पत्नी का शास्त्रार्थ हुआ तो कहाँ हुआ? महिष्मती में, काशी में अथवा मिथिला में? स्थानविषयक ये सारी विकृतियाँ इस कथा से जुड़ी हैं। इसी प्रकार, विद्योत्तमा कहाँ की राजकन्या थी, यह निश्चित नहीं। एक सूत्र बताता है कि कालिदास एवं विद्योत्तमा का शास्त्रार्थ काशी में हुआ (फलतः वह काशिराज की कन्या रही होगी) परन्तु **मेरा दृढ़ विश्वास है कि विद्योत्तमा सम्राट् पुष्यमित्र शुंग की विदुषी कन्या रही होगी।** इस सन्दर्भ में मेरे तर्क हैं–

1. कालिदास के युग में श्रुति-स्मृतिसम्मत वैदिकधर्म का पालन निष्ठापूर्वक हो रहा था जिसका प्रमाण हमें 'पशुमारणकर्मदारुण: अनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रिय:' आदि उक्तियों में मिलता है। इससे सिद्ध है कि यदि किसी राजकन्या से द्विजकुमार कालिदास का विवाह हुआ था तो वह विवाह **सवर्णकोटिक** ही रहा होगा।

कालिदास के युग में एकमात्र शुंगवंश ही ब्राह्मणों का था। **अत: विद्योत्तमा को इसी राजवंश से सम्बद्ध होना चाहिये।**

2. अग्निमित्र-सरीखे शौर्य-पराक्रमविहीन रागरंग में डूबे विलासी नरेश के प्रति कालिदास की जैसी अखण्ड प्रीति है, उससे भी सिद्ध है कि या तो अग्निमित्र-कालिदास परस्पर **घनिष्ठ मित्र** हैं अथवा **सम्बन्धी!** मित्र अथवा सम्बन्धी के ही प्रति किसी व्यक्ति का अखण्ड अनुराग हो सकता है। मेरी सोच यह है कि विद्योत्तमा अग्निमित्र की ही सगी अथवा वैमात्रिक भगिनी रही होगी। फलत: दोनों के बीच **साले-बहनोई** का घनिष्ठ सम्बन्ध था। घनिष्ठ मैत्री तो दोनों के बीच रामगिरि-आश्रम में ही स्थापित हो चुकी थी।

3. जैसे कालिदास **'अनुत्सेक: खलु विक्रमालंकार:'** के बहाने आश्रमदाता सम्राट् विक्रमादित्य का गुणानुवाद करते हैं ठीक उसी प्रकार, महर्षि कण्व के मुख से-**'वत्से! सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाऽशोचनीयाऽसि संवृत्ता'** कहला कर विद्योत्तमा के साथ अपने परिणयसूत्र को भी संकेतित करते हैं, ऐसा मेरा अनुमान है। इस उपमा में विद्या से **विद्योत्तमा** तथा **सुशिष्य** शब्द से अतिशय विनम्र एवं गुणवान् कालिदास का, मुद्रालंकार के माध्यम से स्पष्ट बोध होता है। कवि अपने ग्रंथ में कब, कहाँ, कैसे और क्यों व्यक्तिगत जीवन के सत्य पिरो देता है, यह उसकी गहन भावभूमि तक पहुँच कर ही जाना जा सकता है। वह गूढ़ संकेत ऐसा नहीं होता कि प्रत्येक पाठक उसे जान-समझ ले।

4. कालिदास को शुंगवंश की पारिवारिक सूक्ष्म गतिविधियों का भी बोध है। पिता एवं पुत्र (सम्राट् पुष्यमित्र एवं अग्निमित्र) के पारस्परिक मनोमालिन्य से भी कवि परिचित है और उसे संकेतित भी करता है अग्निमित्र के नाम प्रेषित पुष्यमित्र के पत्र में-

सोऽहमिदानीमंशुमता सगरपुत्रेण प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये। तददिदानीमकालहीनं **विगतरोषचेतसा** भवता **वधूजनेन** सह यज्ञसेवनाय आगन्तव्यम्।- मालविका0

यह पत्र अत्यन्त साभिप्राय है। धारिणी एवं इरावती के रहते हुए भी विलासी अग्निमित्र ने मालविका से (तीसरा) विवाह किया था। देवदत्त के स्नेहवश सम्राट् पुष्यमित्र ने इस सम्बन्ध को स्वीकार तो कर लिया, परन्तु एकमात्र पुत्र अग्निमित्र की चढ़ती वय में भी, विलासप्रियता से वह निश्चय ही खिन्न रहे होंगे। इसीलिये, अपने अश्वमेध-यज्ञ के अश्व की रक्षा में उन्होंने पुत्र की बजाय **पौत्र वसुमित्र** को नियुक्त किया, जो संभवत: बीस-बाईस वर्ष का रहा होगा।

वसुमित्र ने सिन्धु नदी के दक्षिणतट पर, यज्ञ के घोड़े को रोकने वाले यवन (Greek) शासक अश्वानीक को, रणभूमि में बुरी तरह परास्त किया और सम्राट् पुष्यमित्र के यज्ञाश्व को छीन लिया।

अब, सम्राट् पुष्यमित्र तीर्थराज प्रयाग में अश्वमेध-यज्ञ करने जा रहे हैं। महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि उनके प्रधान ऋत्विज हैं (यह स्वयं सिद्ध है महाभाष्य के इस वाक्य से–**पुष्यमित्रं याजयाम:**। यहाँ **याजयाम:** में बहुवचन तथा लट् लकार का प्रयोग अत्यन्त साभिप्राय है। बहुवचन का प्रयोग यहाँ आत्मनिमित्तक है–आत्मार्थे बहुवचनम् नियम से। अर्थात् कोई और नहीं, स्वयं हम (मैं) यज्ञ कराने जा रहे हैं। लट् का प्रयोग भी घटना (यज्ञ) की वर्तमानकालता का सूचक है।

इसी यज्ञ में सम्राट् ने रूठे पुत्र को आने का आमंत्रण दिया है। परन्तु कैसे? दो प्रकार से–1. **विगतरोषचेतसा** तथा 2. **वधूजनेन सह**।

दोनों ही प्रयोग संवेदनजटिल तथा मार्मिक हैं। सम्राट् की इच्छा है कि अग्निमित्र रोषशून्य मन (प्रसन्नमन) से यज्ञ में आयें। दूसरी बात यह कि **वधूजनै: सह** नहीं, प्रत्युत **वधूजनेन सह** (एकवचन) अर्थात् नवपरिणीता वधू मालविका के साथ आयें।

यदि कालिदास पुष्यमित्र के जामाता न होते तो पारिवारिक सम्बन्धों की नतोन्नतता का इतना सूक्ष्म बोध उन्हें क्यों और कैसे होता? और फिर, सम्राट् के पत्र में इस शब्द (विगतरोषचेतसा) की आवश्यकता ही क्या थी?

इस प्रकार, विद्योत्तमा एवं कालिदास के दाम्पत्य को कोरी कल्पना नहीं माना जा सकता। मेरा दृढ़ अभिमत है कि विद्योत्तमा सम्राट् पुष्यमित्र की कन्या, अग्निमित्र की भगिनी तथा कालिदास की अर्धांगिनी है। इस सत्य पर लिपटे विवर्तों का हमें मार्जन कर लेना चाहिये।

पाश्चात्त्य मानसिकता के दासानुदास तथा भारतीय परम्पराओं के प्रतिपद-विरोधी तथाकथित आधुनिक इतिहासकारों पर मुझे तिल भर भी श्रद्धा नहीं। वे तो सम्राट् विक्रमादित्य को इतिहासपुरुष नहीं मानते (तो फिर उनके राजकवि कालिदास को भला क्यों मानने लगे?) परन्तु **स्कन्दपुराण** (1.2.39 से 42 तक) स्पष्टत: सम्राट् विक्रमादित्य को, कलिसंवत् 3020 अर्थात् ई.पू. 82 में विद्यमान घोषित करता है–

ततस्त्रिषु सहस्त्रेषु विंशत्या चाधिकेषु च।
भविष्यं विक्रमादित्यराज्यं सोऽथ प्रलप्स्यते॥

जैनवाङ्मय में भी भगवान् महावीर के निर्वाण के 470 वर्ष बाद विक्रमादित्य का राज्यारम्भ माना गया है–

विक्कमरज्जारम्भ परउ सिरि बीर निव्वुइ भणिया।
सुन्तमुनिवेदजुतो विक्कमकालउ जिनकाली॥

अर्थात् शून्य (= 0) मुनि (= 7) तथा वेद (= 4) अर्थात् महावीर-निर्वाण के 470 वर्ष बाद (अर्थात् ई.पू. 77 वर्ष) विक्रम का राज्य प्रारंभ हुआ। इसी प्रकार, राजशेखरसूरि-प्रणीत प्रभावकचरित में भी 566 वीरनिर्वाण-वर्ष (अर्थात् ई.पू. 81 में) में विक्रम की स्थिति मानी गई है।

इस प्रकार **वैदिक** (स्कन्दपुराण) तथा **आर्हत**–दोनों ही स्त्रोत ई.पू. 82, 77 अथवा 81 में सम्राट् विक्रमादित्य को राज्यासीन सिद्ध करते हैं। दूसरी ओर, कवि कालिदास की जन्मकुण्डली बनाने वाले दो महान् ज्योतिर्विद् पं. सदानन्द जखमोला (गढ़वाल) तथा पं. मोरेश्वर नीलकण्ठ दीक्षित भी उनका जन्म क्रमश: ई.पू. 66 तथा 71 में निश्चित करते हैं। जखमोला की गणना के अनुसार कालिदास का जन्म कलिसम्वत् 3025 की मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष-नवमी को, पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र में सोमवार को हुआ। जब कि पं. मोरेश्वर दीक्षित के अनुसार वह कलिसम्वत् 3030 के प्रभवनामक संवत्सर में मिथुनराशि में उत्पन्न हुए। दोनों दैवज्ञों के कालिदासविषयक अन्य विवरण पूर्णत: भिन्न हैं।

तथापि, कालिदास का विक्रमयुगीन होना तथा विक्रम का भी, थोड़े पौर्वापर्य के साथ, पुष्यमित्र-अग्निमित्रयुगीन होना पूर्णत: इतिहास-सम्मत तथ्य है। इसलिये पुष्यमित्र-पुत्री विद्योत्तमा के साथ कालिदास का सम्बन्ध होना भी पूर्ण सम्भव है।

कालिदास की मातृपितृहीनता, कृतकतनयता, जन्मभूमिविछोह तथा अनेक अन्य व्यक्तिगत संवेदनाओं के भी प्रमाण उनकी कृतियों में बिखरे पड़े हैं। परन्तु दो घटनायें ऐसी हैं, जिनमें उनकी जिजीविषा के दो विरोधी ध्रुव दीखते हैं। एक ध्रुव है **जिजीविषा का अन्त,** जो उनकी प्रथम पत्नी (सुतनुका?) की अकाल मृत्यु से जुड़ा है, तो दूसरा ध्रुव है उनकी **पुनर्जिजीविषा** जो राजकन्या विद्योत्तमा के, उनकी जीवनसहचरी बनने से संभव हुआ।

सरगुजा जिले के जिस रामगढ पर्वत की चर्चा मैने प्रारंभ में की है, उसी पर्वत में प्रख्यात पाश्चात्य प्राच्यभाषाविद् ए. एम्. बॉयर को दो अत्यन्त प्राचीन गुफायें मिली थी जिन्हें

जोगीमारा गुफा कहा जाता है। नाट्यशाला जैसी प्रतीत होने वाली बड़ी गुफा में, ब्राह्मी लिपि में, एक गाथा उत्कीर्ण है जो ई.पू. दूसरी शती की मानी गई है–

सुतनुका नाम देवलासिक्यो।
तां कमयिथ बलुनसेये देवदिणे नाम लुवदिखे॥

अर्थात् सुतनुका थी एक देवमन्दिर-नर्तकी, जिसे प्यार करता था वाराणसेय रूपदक्ष (अभिनेता) देवदत्त!

दूसरी छोटी गुफा में भी, कवियों की प्रशंसा में एक गाथा उत्कीर्ण है–

आदिपयन्ति हृदयं सभावगरुका कवयो एतितयं।
दुले वसन्तिया हि सावानुभूते कुन्दस्ततं एवमालंगति॥

मैंने इस स्थल को कुलपति सोमरात के गुरुकुल के रूप में कल्पित किया है। यह गुरुकुल शुंगनरपतियों के संरक्षण में था। यहीं जन्मभूमि (कपिष्ठल-कविठा, गढ़वाल) छोड़ कर, आचार्य सोमरात के साथ आये बालक देवदत्त (लुवदिखे देवदिणे) की शिक्षा-दीक्षा हुई, यहीं उसकी कुमार अग्निमित्र से प्रगाढ़ मैत्री हुई तथा यहीं आचार्यपुत्री सुतनुका के साथ उसका परिणय भी सम्पन्न हुआ। परन्तु गर्भभारमंथर सुतनुका के, पुष्पचयन करते समय, ऊँची शिला से गिरकर अकस्मात् कालकवलित हो जाने पर, देवदत्त का जीवन ही चेनताशून्य हो उठा। कालान्तर में, यह चेतना पुनः लौटी परम सुन्दरी विदुषी विद्योत्तमा के जीवनसहचरी बनने पर! सुतनुका-प्रकरण को काल्पनिक नहीं माना जा सकता। उसके कई कारण हैं–

1. नारीसम्बोधनों में सुतनु शब्द कालिदास को सर्वाधिक प्रिय है। अपने नाटकों तथा काव्यों में उन्होंने, मृगाक्षि, मदिरेक्षणे, चटुलनयने, करभोरु, तन्वि आदि सम्बोधनों की तुलना में **सुतनु** का प्रयोग कई गुना अधिक किया है, जो निश्चय ही उपर्युक्त रहस्य को संकेतित करता है।

2. कामदाह तो पुराणसम्मत घटना है अतः रतिविलास का भी औचित्य बनता ही है। परन्तु **अजविलाप** पूर्णतः काल्पनिक वृत्त है जिसके औचित्य की समीक्षा की जानी चाहिये। **क्या यह मानना उचित एवं तर्कसंगत नहीं कि इन्दुमती-अज- प्रकरण के व्याज से, कवि ने स्वयं अपना करुण रोदन प्रकट किया है, अपनी प्रियतमा सुतनुका के लिए?**

राजपुत्री विद्योत्तमा के आगमन से देवदत्त (कालिदास) के जीवन में उल्लास, उमंग एवं प्रबल जीवनेच्छा का सञ्चार होता है। सुतनुका की विरहनिदाघज्वाला में तपे-सूखे देवदत्त

के हृदय-कानन में मानो विद्योत्तमारूपी श्रावण घनघटा घिर आती है। उस अजस्र रसवर्षा से भीग उठता है उसका तन-मन! विद्योत्तमा एवं देवदत्त-दोनों अगाध वैदुषी से ओतप्रोत हैं। उनका प्रेम परिपक्व है, भावनायें प्रौढ़ हैं। दोनों कन्दर्पकला में दक्ष तथा शृंगार समुच्छलन के मार्मिक हैं। विद्योत्तमा अपने कविहृदय वल्लभ को, सम्पूर्ण सृष्टि की वेदना से ओतप्रोत मानती है और देवदत्त भी अपने भोग में दाम्पत्य के **अर्धनारीश्वरत्व** को अनुभव करना चाहता है।

विद्योत्तमानाटिका में नाटककार कमनीयता के साथ इस स्थिति को चित्रित करता है। द्रष्टव्य है वह सन्दर्भ!

विद्यो.– आर्यपुत्र! निपीतनिखिलसृष्टिवेदनो भवान्। अगाधः किल भवत्प्रणयोदधिः। सन्तरणकलाऽनभिज्ञाऽहं समवगाढुं बिभेमि।

देवदत्तः – प्रिये! किमेवं कातरासि? निबद्धरजसं पूर्णविकसितां मल्लीमवाप्य को नु खल्विन्दिन्दिरो मधुपानाद् विरमति? सम्प्रति हि,

चञ्चन्त्येतां कुचाग्रौ किसलयमसृणं मामकं वल्गुवक्ष-
श्चञ्चद्बिम्बौष्ठमाध्वीमधिमुखमधरस्ते निदध्यान्निकामम्।
सिध्येच्छारीरसाम्यं निरतिशयतया सन्त्यजद्बन्धुरत्वं
दाम्पत्यं नौ क्षणेऽस्मिन् वरतनु! बिभृयादर्धनारीश्वरत्वम्!!

यद्यपि दोनों पूर्णतः भोगतृप्त हैं। तथापि विद्योत्तमा को क्षण भर की भी **प्रियतमसम्पर्कशून्यता** असह्य प्रतीत होती है। वह अपने मनोजगत् की हलचल का प्रत्यग्र अनुभव करती है–जब भोगाकाङ्क्षा रूपी वृक्षराजियों में, मिथः संघर्ष के कारण अग्नि सन्दीप्त हो उठी और उसने कौमार्यरूपी झुलसते निदाघ में प्रचण्ड दावाग्नि का रूप धारण कर लिया, तभी जलराशियों से भरापुरा प्रियतमरूपी मेघ घिर आया तथा अभीष्ट सम्भोगसुखरूपी जल की वृष्टि करने लगा। अब (यद्यपि) जीवन सन्तापशून्य है, रसमय है। तथापि प्रियतमरूपी मेघ का क्षणिक विच्छेद भी शरीररूपी वनिका को दग्ध चेतना वाली बना देता है!

आकाङ्क्षावृक्षराजिप्रतिनिमिषघनस्पर्शसंघर्षणोत्थः
कौमार्योद्यन्निदाघे प्रसरगुणभरोऽङ्गनामा दवाग्निः।
कान्ताम्भोदेऽम्बुनद्धे भृशमुपगतेऽभीष्टसम्भोगवर्षेऽ
पीषत्सम्पर्कशून्ये वहति तनुवतीं प्लुष्टचैतन्यसत्त्वाम्॥

पराकाष्ठा पर पहुँचा विद्योत्तमा का यह वल्लभानुराग सुतनुका-सन्दर्भ का ज्ञान होते ही अकस्मात् संशयित हो उठता है। अपने लिये प्रतिक्षण प्रयुक्त देवदत्त का **सुतनु** सम्बोधन उसे

विषाक्त प्रतीत होने लगता है। उसे लगने लगता है मानो देवदत्त उसे सुतनुका के ही रूप में भोग रहा है। गर्व एवं स्वाभिमान में डूबी विद्योत्तमा, देवदत्त को उपालंभ ही नहीं देती, तिरस्कार भी करती है। भार्या को समझा पाने एवं अपने नैष्ठिक प्रणय का प्रमाण दे पाने में असमर्थ देवदत्त, अन्ततः उज्जयिनी चला जाता है तथा **कालिदास** के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है विक्रम की राजसभा में!

छः महीने की वियोगावधि में विद्योत्तमा पश्चात्तापाग्नि में दह कर देवदत्त के प्रणय का अनुभव कर पाती है। उसकी सपत्नीविषयक ईर्ष्या समाप्त हो जाती है और वह स्वयं को भी सुतनुका के ही रूप में रूपान्तरित कर लेती है। अब उसे यही सम्बोधन भाने लगता है। चिरकालानन्तर जब दोनों पुनः मिलते हैं तो उनका प्रणय खरे कंचन सा दीप्त हो उठता है। विद्योत्तमा **पश्चात्ताप** को ही अपना विपद्‌बन्धु मानती है और कालिदास तनुप्रवाहा शिप्रा को!

विद्यो.– गतो गर्तं गर्वोऽभवदचलमानोऽप्यवमतः
कुबुद्धिस्संविद्धा हृदयमजहाद्दर्पकणिका।
न के बन्धुम्मन्याः सुखसहचरास्ते रिरिचिरे
परं पश्चात्तापो विपदि समभूदेकशरणम्॥

देव. – तनुप्रवाहामालोक्य सिप्रां तपसि भामिनि!
मद्वियोगभराक्रान्तां कृशाङ्गीं त्वां व्यचिन्तयम्॥

इस पुनर्मिलन के बाद ही प्रारंभ होती है कवि कालिदास की सारस्वत साधना। इस साधना की सफलता की पृष्ठभूमि में रही है उनकी जीवनसहचरी विद्योत्तमा! दाम्पत्य चाहे देवाधिदेव शिव एवं पार्वती का हो चाहे दिलीप एवं सुदक्षिणा! काम एवं रति का हो अथवा अज एवं इन्दुमती का! यक्ष एवं यक्षिणी का हो अथवा राम एवं सीता का! महाकवि ने इन समस्त प्रणयवृत्तों में **अपने दाम्पत्य की निष्ठा को ही बिखेरा है, यह मेरा दृढ़ विश्वास है! वस्तुतः देवदत्त को कविकुलगुरु कालिदास बनाया तो मात्र विदुषी अर्धाङ्गिनी विद्योत्तमा ने!!**

प्राचीन संस्कृत साहित्य में संघर्षों का समाधान

प्रो. वेद कुमारी घई
पूर्वाचार्या, जम्मूतवी

संस्कृत शब्द संघर्ष (सम् + घृष + घञ्) का अर्थ है – टक्कर, भिड़न्त, कलह, विवाद, लड़ाई, युद्ध। मानव जाति का इतिहास संघर्षों की अविच्छिन्न श्रृंखला का इतिहास रहा है। छोटे-छोटे परिवारों और कबीलों की लड़ाइयो से लेकर बड़े-बड़े भयंकर विभीषिका से यह मानवजाति कई कई बार पीड़ित और संत्रस्त रही है। पर हर संघर्ष की पीड़ा भोगने के पश्चात् मानव जाति ने शान्ति के वातावरण की चाह की है और भावी संघर्षों से बचने के उपाय खोजने के प्रयास भी किये हैं। महाभारत और पुराणों के अनुसार राज्यसत्ता का उदय भी ऐसे संघर्षों को मिटाने के लिए हुआ था जिनमें बलवान् आततायी निर्बलों को सताने लगे थे। महाभारत में राजदण्ड की महिमा का वर्णन करते हुए भीष्म कहते हैं कि यदि समाज में शासन का दण्डविधान न हो तो प्रजा में बड़ी मछली छोटी मछलियों को खा जाती है।[1]

महाभारत का युद्ध चचेरे तयेरे भाइयों कौरवों और पाण्डवों के मध्य सत्ता प्राप्ति का संघर्ष था। महायुद्ध की उस विनाश अग्नि में बड़े बड़े दिग्गज वीर, वैज्ञानिक, शिक्षक सब समाप्त हो गये।

भीषण नरसंहार और रक्तपात के बाद प्राप्त हुई विजय पर दुःखी होते हुए युधिष्ठिर को कहना पड़ा था – अपने इन सम्बन्धियों को मौत के घाट उतार कर तीनों लोगों का राज्य भी हमें खुशी नहीं दे सकता।[2]

---

1. राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यान्निवाभक्षयन् दुर्बलं बलवत्तराः।।
अराजका प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्।। महाभा॰ शान्तिपर्व, अध्याय 67, श्लोक 16-17

2. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 7, श्लोक 8, 9,12-19
त्रैलोक्यस्यापि राज्येन नास्मान् कश्चित् प्रहर्षयेत्
बान्धवान् निहतान् दृष्ट्वा पृथिव्यां विजयैषिणः।। वहीं, अध्याय 7, श्लोक 8

हम कुटुम्बघातियों की यह जीत नहीं हार है। कितने व्रत उपवास, पूजा, पाठ करके माताएँ सन्तान की चाह पूरी कर पाती हैं? उनकी क्या स्थिति होती है जब वे पाले पोसे जवान बच्चे युद्ध की भेंट चढ़ जाते हैं? वे रोती चिल्लाती माताएँ, भाइयों की बहनें और सैनिक पत्नियाँ अपने प्रियजनों के वियोग में प्राण त्याग देंगी। हमारे अपने नन्हें नन्हें वीर बालक अभिमन्यु, प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक श्रुतकीर्ति सब जवानी की दहलीज़ पर कदम रखते ही युद्ध की आग में भस्म हो गये हैं। इस सारी विनाश लीला का कारण हम ही तो हैं। हमने अनन्त पाप किया है। नरक ही हमारी ठौर है। मैं इस रक्तरंजित राजसिंहासन पर नहीं बैठ सकता। अर्जुन! तुम राज्य करो, मुझे यह सब राज्य और सुख भोग छोड़कर कहीं दूर जाने दो।[1]

रामायण मे संघर्ष के कई अवसर दिखाई देते हैं। बालकाण्ड में मलद और करूष जनपदों में आतंक फैलाने वाली राक्षसी ताड़का का वध राम करते हैं तथा ऋषि विश्वामित्र से अनेक शस्त्रास्त्रों को ग्रहण करते हैं।[2] अरण्यकाण्ड मे भी राक्षसों से आतंकित ऋषियों की रक्षा के लिए वे द्वन्द्व युद्ध में विराध का वध करते हैं ताकि वन में शान्ति स्थापित हो सके।[3] अयोध्याकाण्ड में जब पौर–जानपदों की सहमति से दशरथ राम का राज्याभिषेक घोषित करते हैं परन्तु कैकेयी पहले दिये वचन के अनुसार दो वर मांगकर राज्याभिषेक में विघ्न डालती है तो संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। लक्ष्मण राम से कहते हैं –"जब तक यह बात लोगों तक पहुँचे उससे पहले ही आप इस राज्य को अपने अधीन कर लें। जब मैं हाथ में धनुष लेकर कृतान्त की तरह आपकी रक्षा के लिए खड़ा हूँ तो किसका सामर्थ्य है जो कुछ कर सके? यदि कोई इसमें विघ्न डालेगा तो मैं सारी अयोध्या को मनुष्यहीन कर दूँगा। भरत या उसके पक्षपाती सभी का मैं वध करूँगा। यदि कैकेयी के भड़काये जाने पर दुष्ट पिता हमारा शत्रु बनता है तो उसकी भी हत्या होनी चाहिए।"[4]

यदि राम अपने अधिकार की दुहाई दे कर राजसत्ता को हथिया लेते जैसा कि लक्ष्मण की इच्छा थी तो अयोध्या में गृहयुद्ध हो जाता। उन्होंने पारिवारिक कलह से बचने के लिए

---

1. गमिष्यामि विनिर्मुक्तो विशोको निर्ममः क्वचित्।
प्रशाधि त्वमिमामुर्वीं क्षेमां निहतकण्टकाम्।।
न ममार्थोस्ति राज्येन भोगैर्वा कुरुनन्दन। वहीं, श्लोक 43-44 तथापूर्व श्लो॰ संख्या 3-42
2. रामायण, बालकाण्ड, सर्ग 26, 27, 28
3. वहीं, अरण्यकाण्ड सर्ग 2, 3, 4
4. रामायण, अयोध्याकाण्ड सर्ग 21, श्लोक 8-12

अयोध्या के राजसिंहासन का त्याग कर दिया। पिता के वचन और माता कैकेयी की इच्छा का सम्मान करते हुए वनगमन को सहर्ष स्वीकार किया। विमाता कैकेयी की घृणा को अपने प्यार से जीता और वही कैकेयी चित्रकूट मे फूट फूट कर पश्चाताप से रोयी। रावण के साथ युद्ध करने से पूर्व राम ने समझौते और शान्ति के प्रयास कर लिये थे। हनुमान और अंगद के दौत्यकर्म के निष्फल हो जाने पर तथा समन्वय सन्धि की सभी संभावनाएँ समाप्त हो जाने पर ही उन्होंने युद्ध का निश्चय किया। इस प्रकार संघर्षों का समाधान कहीं उदारता, त्यागवृत्ति और समझौते से तो कहीं दण्डविधान से होता है।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में विशेषत: नीति ग्रन्थों में विषय-भेद से तथा पात्र-भेद से विभिन्न प्रकार के संघर्षों का उल्लेख मिलता है और प्राचीन संस्कृत में इनके समाधान भी विभिन्न प्रकार से सुझाये गये हैं। आवश्यक नहीं कि वे सभी समाधान आज के युग में भी पूर्णतया सफल हों पर यह जानना लाभकर होगा कि आज देश के विभिन्न भागों में हम जिस प्रकार के राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक संघर्षों से जूझ रहे हैं क्या इन्हीं से मिलते जुलते संघर्षों और टकरावों की परिस्थितियाँ हमारे प्राचीन इतिहास में भी घटित होती रही हैं और यदि होती रही हैं तो उनके मूल कारण कौन से थे और समाधान किस प्रकार के प्रस्तुत किये जाते रहे थे? वे कौन सी प्रवृत्तियाँ हैं जो मानवों को बार बार लड़ाती हैं और उनका विनाश करवा देती हैं? क्या इन प्रवृत्तियों को कुछ सीमा तक बदला अथवा सुधारा जा सकता है?

पारिवारिक संघर्ष

संघर्षों की शुरुआत का सबसे छोटा परन्तु महत्त्वपूर्ण क्षेत्र परिवार रहा है। संयुक्त परिवार में युवा पीढ़ी में परस्पर तथा युवा और वृद्ध पीढ़ियों में भी धन, स्त्री तथा सत्ता के लिए संघर्ष होते रहे हैं। अग्निपुराण में पारिवारिक संघर्ष के पांच कारण बताये हैं – विमाता से उत्पन्न भाई से, भूमि पर अधिकार करने से, स्त्री से, शब्दों अर्थात् गाली गलौच से, तथा अपकार करने से।[1]

पारिवारिक शान्ति के लिए प्राचीन ऋषियों ने एक ओर तो सदस्यों की मानसिकता को सुसंस्कृत करने का प्रयास मातृदेवो भव पितृदेवो भव जैसे निर्देशों से किया तो दूसरी ओर आश्रम मर्यादा बनाकर वृद्ध पीढ़ी को आयु के उपरान्त सत्ता अधिकार का मोह छोड़ने को प्रेरित किया।[2]

---

1. अग्निपुराण, 240, 19
2. गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मन:।
अपत्यस्यैव चापत्ये वनमेव तदा श्रयेत्।। महाभा॰ शान्तिपर्व, अ॰ 244, श्लोक 4

वैदिक ऋषियों ने ससुराल में आई नई बहू को साम्राज्ञी कहा है। नारी को मीठा बोलने की प्रेरणा दी है तथा भाई बहनों को परस्पर द्वेष न करने को कहा है।[1]

महाभारत में भीष्म कहते हैं –बड़ा भाई पिता के समान होता है, पत्नी और पुत्र तो अपना ही शरीर है, सेवक अपनी छाया है, पुत्री स्नेह की पात्रा है, इसलिए इन सब के विवाद की बात आए भी तो उसे सहन कर लेना चाहिए, क्रुद्ध नहीं होना चाहिए।[2] पारिवारिक सौहार्द के ऐसे सूत्र प्राचीन साहित्य में स्थान स्थान पर मिलते हैं।

वर्ग संघर्ष

समाज के विभिन्न वर्गों में धन तथा अधिकार प्राप्ति के लिए संघर्ष होते रहे हैं। समाज में विभिन्न प्रकार के कार्यों के सम्पादन के लिए लोगों का वर्गीकरण सभी देशों में होता रहा है ताकि सभी कार्य अधिक कुशलतापूर्ण ढंग से शान्तिपूर्वक सम्पन्न होते रहें। प्राचीन भारत में वर्ग-संघर्षरहित वर्णव्यवस्था की रचना की गई थी जिसमें यज्ञ-अध्ययन-अध्यापन करने वाले लोग ब्राह्मण, युद्धकर्म करने वाले क्षत्रिय, व्यापार, उद्योग में संलग्न लोग वैश्य तथा शिल्पादि कर्म करने वाले लोग शूद्र कहे गये।[3]

---

1. अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः।
   जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्।।
   सम्यञ्चः सव्रता भुत्वा वाचं वदत भद्रया।। अथर्ववेद, 3.30.2-3
2. भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः।
   छाया स्वदासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम्।।
   तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेन्नित्यमसंज्वरः।
   गृहधर्मपरो विद्वान् जितक्लमः।। महाभा॰ शान्तिपर्व, अ॰243, श्लोक 20-21
3. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
   उरूतदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत।।
   ऋग्वेद, 10.90.12, यजुर्वेद 31.11, अथर्ववेद 19.6.6
   ब्रह्म वा इदमासीदेकमेव तदेकं सन्नव्यमवत्।
   तच्छ्रंयोरूपमत्यसृजत् क्षत्र यान्येतानि
   देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो
   रुद्रः पर्जन्य यमो मृत्युरीशान इति।
   स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि
   देवजातानि गणशः प्रख्यायन्ते वसवो रुद्रा
   आदित्या विश्वदेवा मरुत् इति।
   स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत्
   पूषणमियं वेपूषेयं ह्यीद सर्वं पुष्यति यदिदं किंच।
   बृहदारण्यक उपनिषद्, प्रथम अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण कण्डिका- 11, 12, 13

इस वर्णव्यवस्था मे लचीलापन था और लोग अपनी अभिरुचि और योग्यता के आधार पर किसी भी वर्ण में सम्मिलित हो सकते थे। प्रमुख उद्देश्य यही था कि व्यक्ति निजी विकास के साथ साथ समाज के विकास में अधिक से अधिक योगदान कर सके।[1]

इसमें न तो ऊंच-नीच का भाव था और न ही घृणा द्वेष के लिए अवकाश था।[2] परन्तु बाद में जब गुण कर्म पर आधारित वर्णव्यवस्था जन्म पर आधारित जातिप्रथा में परिवर्तित हो गई तो समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग शिक्षा से वंचित होकर दीनहीन पीड़ित बन गया। लोग भूल गये कि विभिन्न वर्ग समाजरूपी शरीर के अंग हैं और इन सबकी पुष्टि से समाज रूपी शरीर पुष्ट हो सकता है।

समाज के एक वर्ग के सदस्यों में भी कई कारणों से संघर्ष उत्पन्न होते हैं। कात्यायन के अनुसार इन विवादों के मूल कारण दो हैं। देयाप्रदानम् अर्थात् जो किसी का देय है जैसे वेतन, मजदूरी, शुल्क आदि, उसे न देना तथा हिंसा।[3] इन्हीं दो के मनु ने अठारह भेद बताये हैं जिन्हें व्यवहारपद कहा है। व्यवहार वि+अव+हार का अर्थ है झगड़े के बीच सत्य का उद्घाटन करना तथा सन्देहों को दूर करना।[4] कुल, श्रेणी, पूग, गण इन आपसी झगड़ों का निपटारा कर दिया करते थे।

क्षेत्रीय संघर्ष

संस्कृत साहित्य में तथा संस्कृत अभिलेखों में छोटे छोटे राज्यों के पारस्परिक संघर्षों का वर्णन भी मिलता है। इतिहास साक्षी है कि सिकन्दर के आक्रमण में पंजाब के गणराज्यों ने डटकर उसका मुकाबिला किया। पौरस जब सिकन्दर से लड़ने पहुँचा और आम्भी से सहायता

---

1. न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्
ब्रह्मणा पूर्वं सृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्
महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय 188, श्लो॰ 10
2. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः, सौभगाय, ऋग्वेद, 5.60.5
यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्रारय चार्याय च स्वाय चारणायः, यजु॰ 26.2
3. देयाप्रदानं हिंसां चेव्युत्थानद्वयमुच्यते
कात्यायन 30, स्मृतिचन्द्रिका से उद्धृत।
धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-3, पृ॰ 718
4. वि नानाऽर्थे अव सन्देहे, हरणं हारः उच्यते।
नानासन्देहहरणाद् व्यवहार इति स्मृतः।
कात्यायन व्यवहारमयूख में उद्धृत, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-3, पृ॰ 706

चाही तो उसने सहायता नहीं दी। परिणामस्वरूप पौरस को पराजय का मुँह देखाना पड़ा। इस प्रकार विदेशी आक्रमण का सामना परस्पर झगड़ते हुए छोटे छोटे क्षेत्रीय राज्य नहीं कर सकते थे। अतः चाणक्य ने सुदृढ़ केन्द्रीयसत्ता को समाधान के रूप में प्रस्तुत किया। कौटिल्य का अर्थशास्त्र इसी सुदृढ़ केन्द्रीय सत्ता को ध्यान में रखकर लिखा गया है। चन्द्रगुप्त मौर्य का विशाल साम्राज्य उसी आधार पर बना था। पर नीतिकारों ने इस बात का भी ध्यान रखा था कि सुदृढ़ केन्द्रीय सत्ता के साथ साथ विभिन्न क्षेत्रों की अपनी अपनी पहचान भी बनी रहे। गौतमधर्मसूत्रकार ने देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धा प्रमाणम् (11.20) कह कर सभी स्थानीय रीति रिवाजों तथा परम्पराओं को मान्यता दी है। अनेकता में एकता का यह सन्देश वैदिक युग से ही प्राप्त होता रहा है। अथर्ववेद का ऋषि भूमि को माता के रूप में वर्णित करते हुए कहता है–

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः

इस भूमि पर बहुत सी बोलियों को बोलने वाले नाना धर्मों कर्त्तव्यों को करने वाले लोग ऐसे रहते हैं जैसे एक घर में परिवार के भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न कार्य करते हुए पारिवारिक उन्नति करते हुए रहते हैं।[16]

क्षेत्रीय संघर्षों से बचने के लिए संस्कृत साहित्य में तीर्थों और पुण्यक्षेत्रों की अवधारणा प्रस्तुत की गई जिससे इस विशाल भारतदेश के प्रत्येक भूभाग के साथ जनता ने आत्मीयता स्थापित कर ली। देश की नदियाँ, पर्वत, जलाशय, कला और व्यापार के केन्द्र नगर सभी किसी न किसी देवी, देवता, ऋषि, तपस्वी, महापुरुष से सम्बद्ध होकर तीर्थ बने हैं और देश के विभिन्न क्षेत्रों के निवासी दूर-दूर की तीर्थ-यात्रायें करके इनके साथ अपना धार्मिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। आज भी स्नान के समय स्नान के घड़े भर जल में उत्तर और दक्षिण की नदियों की उपस्थिति की परिकल्पना की जाती है –

गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिन्धुकावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

मत्स्यपुराण (अध्याय 13) तथा अन्य कुछ पुराणों में एक सौ आठ देवीपीठों का उल्लेख है। चार धामों की यात्रा की लालसा आज भी भारतीय ग्रामीण जनता में है जो संकुचित क्षेत्रीय भावना से ऊपर उठने की प्रेरणा देती है।

---

1. अथर्ववेद 12.1. जनंबिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।

धार्मिक संघर्ष

धर्म के नाम पर आये दिन रक्तरंजित संघर्षों का विवरण हमें सुनने को मिलता रहता है। अतीत में भी बौद्धों, जैनों, वैदिक धर्मावलम्बियों, पौराणिकों में शैवों, वैष्णवों, शाक्तों और न जाने कितने सम्प्रदायों में टकराव होता रहा है। इस्लाम के आगमन पर यह संघर्ष और तीव्र हुए, कहीं मन्दिर तोड़े गये और कहीं मस्जिदें। जम्मू कश्मीर की भूमि पर भी धार्मिक विरोध हुए। प्राचीन भारत में इन धार्मिक विरोधों का समाधान वैदिक ऋषियों ने एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति[1] कहकर कर दिया था। वह परम सत्ता तो एक ही है उसी को विद्वान् लोग भिन्न नामों से पुकारते हैं। जब हम सभी मानव उसी एक की सन्तान हैं तो फिर संघर्ष कैसा? अशोक ने अपने शिलालेख में स्पष्ट निर्देश दिया है सवे पासंडा सवत वसेयु सवे ते संयमं भावसुधिं इछंति अर्थात् सभी धर्मावलम्बियों को सभी जगह रहना चाहिए क्योंकि वे सभी संयम और भावों की पवित्रता की चाह करते हैं। कश्मीर में महारानी सुगन्धा के समय में विभिन्न मतावलम्बियों में झगड़े प्रारम्भ हो गये थे। महारानी ने सभी विद्वानों की सभा बुलवाई और निर्णायकों ने सब के सिद्धान्त सुनकर यह निर्णय दिया कि जैसे एक विशाल भवन के कई दरवाजे उसी भवन के भीतर पहुंचाते हैं, उसी प्रकार ये भिन्न भिन्न मत उसी एक परम तत्त्व की ओर ले जाते हैं। अतः सभी लोग कश्मीर की भूमि पर प्रेम भाव से रह सकते हैं, किसी को भी बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है।[2] इस प्रकार कश्मीर में महारानी सुगन्धा ने धार्मिक विवादों का समाधान प्रस्तुत किया है। पुराणों में पुराणकारों ने अवतारवाद की अवधारणा से भी विष्णु अथवा शिव का अवतार मानकर सभी देवों का परस्पर सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। बुद्ध भी विष्णु का अवतार हैं।

जैनधर्म के अनेकान्त के सिद्धान्त[3] ने, शांकरवेदान्त के अद्वैत ब्रह्म के सिद्धान्त ने तथा

---

1. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्मिाहुरथो दिव्यः स सुपर्णोंगकत्मान्
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति यमं मातरिश्वानमाहुः।। ऋग्वेद-1. 164.46. अथर्ववेद 9 15.28

2. प्रवेष्टुकामा बहवः पुमांसः पुरे यथैकत्र महागृहे वा
द्वारान्तरेणापि विशन्ति केचित् तथोत्तमे धाम्नि मुमुक्षवोऽपि। आगमडम्बर 4.52.
एकः शिवः पशुपतिः कपिलोऽथ विष्णुः सङ्कर्षणो जिनमुनिः सूगतो मनुर्वा।
संज्ञा परं पृथगिमास्तनवोऽपि काममव्याकृते तु परमात्मनि नास्ति भेदः।। आगमडम्बर 4.57

3. एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावा सर्वथा येन दृष्टाः एकोभावः सर्वथा तेन दृष्टः।।
षट्दर्शनसमुच्चयटीका, पृ॰ 222

काश्मीरशैवदर्शन के शिवाद्वयवाद ने धार्मिक सहिष्णुता को बढ़ा कर धार्मिक विवादों का समाधान प्रस्तुत किया।[20]

इस प्रकार प्राचीन संस्कृत साहित्य में जहाँ विविध प्रकार के संघर्षों के उल्लेख मिलते हैं वहाँ उनके विविध समाधान भी प्रस्तुत किये गये हैं। राष्ट्रीय एकता तथा विश्वशान्ति की प्रतिष्ठा के लिए संस्कृत साहित्य में बिखरे इन पारिवारिक, सामाजिक तथा धार्मिक सौहार्द के सूत्रों का संग्रह किया जाना चाहिए। विभिन्न स्तरों पर पाठ्यक्रमों में इन्हें स्थान मिलना चाहिए ताकि मिलकर चलने, मिलकर सोचने विचारने, बोलने तथा परस्पर एक दूसरे के मन को समझने का वैदिक सन्देश[21] विद्यार्थियों के कोमल हृदयों में प्रतिष्ठित हो सके।

1. सर्वे भावा: स्वमात्मानं जानन्त: सर्वत: स्थिता:
   मदात्मना घटो वेत्ति वेद्म्यहं च घटात्मना।।
   सदाशिवात्मना वेद्मि स वा मदात्मना।
   शिवात्म्ना यज्ञदत्तो यज्ञदत्तात्मना शिव:।।
   सर्वे सर्वात्मका भावा: सर्वसर्वस्वरूपत:।। शिवदृष्टि 5.105-7
2. संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।। ऋग्वेद 10

KASHMIR SAIVISM

Dr. Koshelya Walli
Ex-H.O.D., Deptt. of Skt. &
Ex-Dean Faculty of Arts, J.U.

Kashmir 'Saivism has a significant place in the history of Indian philosophy. Different systems of philosophy came into existence during different times in accordance with the need of the time. The original cult of Kashmir was predominantly a kind of 'Saivism consisting of worship of 'Siva and Sakti. the cult is closely connected with cult of Siva.

The sivasutras which form the basic of Kashmir Saivism are stated to have been revealed in a dream to Vasugupta (8th Century A.D.) by lord siva Himself who took pity on the suffering humanity. Vasu Gupta in turn handed them down to his disciple Kallata. There are several interpretations of the sutras by scholars like Ksemaraja, Bhaskara and Vardacarya. The aim of the propagation of the sutras was not only to establish the principles of Kashmir Saivism but also to induce a man to experience personally his real nature to find for himself that man is essentially in his real and inmost self the Supreme power whom we might designate Truth, Goodness, God, Parama Siva, Cosmic Energy-any name that we might like to give. The Siva Sutras, basically aim at this goal. As such, Kashmir Saivism has its own place in the history of Indian Philosophy.

What Comprises Kashmir Saivism? In Saivism, the ultimate Energy is identified with Siva. Siva is the Supreme Goal of life. He is not to be attained. He is already there. Only he needs recognition, hence is given the name of pratyabhijna to this system of philosophy. It is also Known as Trika philosophy which refers to the triple principle of Pati, Pasu and Pasa (पति, पशु पाश)

Besides pratyabhijna are two more divisions-Agama and Spanda. The Agama is said to be of divine origin and includes the doctrines and practices and that are handed down to the student from the teacher. The hightest form of Sivagamas taught only Advaita or Non-dualism. The proofthereof is the Siva sutras that most

important in the Agama Sastra and given the name of Sivopanisat. Its authority has been attributed to siva Himself.

The Spand Sastra lays down the main principles of the system in greater detail than in the Siva Sutras. Thus Siva sutras are understood better with the help of the Spanda Sastra.

The pratyabhijna system embraces the philosophical argument and thus is said to be the fully developed system.

Siddha Somananda established the philosophical proposition and originated the logical sequence. He explained in detail the principles of his own system and that of his opponents Acharya Abhinavagupta clearly referred to Somananda as the learned originator of Pratyabhijna and Utpala as its learned comentator.

Besidess these three divisions there are also stotras-prayer-poems. These contain the essence of Kashmir Saivism.

This, in short may be said to be the early history of Kashmir Saivism-how and when it came into existence.

Chief elements of the System - To understand the esstential doctrines of Kashmir Saivism, we are to grasp the chiefpoints of difference between trika, Spanda and Pratybhijna. Trika is based on Pati, Pasu and Pasa. Pati is Paramasiva, Pasu is the imprisoned Jiva and Pasa comprises the Shackles that segregate the individual from that Supreme Energy called Siva. When the jiva realises that is not different from Siva, the Shackles disappear. In Trika system Pasa is often, referred to as 'Mala' or dirt. The freedom from 'Mala' is the attainment of liberation.

Siva manifest this Universe. The first manifestation is called the Spanda, often referred to Kampana, calana, sphurata, unmesa. Thus the act of manifesting the glory of 'Sakti in the Lord may be termed Spanda. The act of manifesting the universe in no way brings any change in Siva, the Supreme, the Supreme Lord.

The philosophical essence is revealed by Pratybhijna. Normally, a person is surrounded by 'Mala' or dirt of ignorance One bent upon casting off the ignorance, feels that man is Parama Siva Himself.

Siva is the basic cause of the Universe. He alone is Omnipotent and independent. He has power of independence (स्वातन्त्र्यशक्ति) The differences in this

Universe are because of the Power of His Freedom. He manifests this universe within Himself by five principal acts (पञ्चकृत्य) 1. सृष्टि (Creation) 2. स्थिति (preservation) 3. संहार (desruction) 4. तिरोधान (disapperance), 5. अनुग्रह (favour). Likewise the Superme Lord or paramasiva is perfect within Himself by Sat (Truth), cit (consciousness), Ananda (Bliss), iccha (Desire), Jnana (knowledge), and Kriyasakti (Power of action).

Thus, it is found that Param Shiva is the Soul of this Universe. According to Kashmir Saivism, Thirty six elements sustain this creation-earth, water, fire, air and ether are five elements (Panca Mahabutas), hands, speech, feet and the secret organs are organs of action (Karmendriyas). Smell (gandha), taste (rasa), form (rupa) touch (spar'sa), and sound ('Sabda) are designated as tanmatras (elements of senseperception). Ears, eyes, skin, tongue and nostrils are senses of knowledge (Budhindriyas or Jnanendriyas). Mind (मनस्) egoism (अहंकार) and intellect (बुद्धि) are known as Antahkarana (elements of mental perception). Besides these are Prakrti and Pursua (Objective manifestation and indivisual subject). Maya (Limitation of power), kala (limited authorship), Vidya (Limited Knowledge), raga (limitation in respect of desire) kala (limitation in respect of time), Niyati (limitationin respect of all pervasiveness are six coverings of the soul. Sadasiva, I'swara, Suddha Vidya, 'Siva and 'Sakti are five princeples of subject-object on conscious level. These are the thirty six tattvas referred to in this system of Samkhya plus eleven tattvas of Kashmir 'Saiva Philosophy.

The universe is a manifestation of 'Siva and is not different from Him. This recognition is named pratybhijna.

In the Vedanta, the main idea on which the system is built up is -ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या -Brahman alone is Truth and the world is a myth. The Advaita categorically states that the creation, full of duality is unreal is unreal as compared with the final reality which is devoidof duality. 'Siva-advaita states that the Universe is manifestation of 'Siva's Supreme power and thus not different from Him, Whatever 'Siva has in Himself in the minutest form that He expands in the Universe. Evidently, the secret of Pratyabhijana is to help the individual to understant that he is 'Siva.

The Universe comes into existence with the commencement of its operation by 'Sakti and disappears with the contraction by 'Sakti.

'Sakti has various aspects out of which चिच्छक्ति (Power of Self-awareness) आनन्दशक्ति (Power of Bliss) इच्छाशक्ति (Power of absolute irresistibility), ज्ञानशक्ति (Power of Knowledge), क्रियाशक्ति (Power of assuming any and every form) are its most important aspects.

Kashmir 'Saiva philosophy differs from Vedanta in certain respects, For instance; the theory of Bimbapratibimaba vada (the theory of reflection). Individual consciousness is the reflection of divinity in the intellect. Thereby an individual is capable to observe Universal Objects. This is the view point of Vedanta for the jiva and the world.

According to Kashmir 'Saiva Philosophy a reflected thing cannot be pure. The manifestation of the world and an individual is due to the power of freedom of Lord 'Siva and as such means God-Consciousness.

According to Samkhya philosophy, Purusa is inactive. So far purusa is unaware of his prakriti, he is involved, in the cycle of birth and this other words means bondage. Purusa is free from the clutches of Prakrti when he is aware of himself. Prakrti seeing Purusa's self-awareness retreats and Purusa becomes free.

Kashmir 'Saivism says that Purusa can't be conscious and at the same time inactive. Conscious Purusa cannot be involved in the repeated cycle of births and deaths by inert parkrti inert by nature, can't understand the self-awarenes of Purusa and as such the question of involving Purusa in the worldly quagmire does not arise.

According to Kashmir 'Saivism, ignorance never means absence of Knowledge, but incomplete knowledge. It is designated as Bauddha Ajnana. There is another aspect of knowledge that is incomplete. It termed as Paurusa ajnana, since man is unaware of his Divine-Consciousness.

The grasping of Advaita 'Saiva philosophy to its fullest helps in removing the Bauddha-ajnana. The Paurusa ajnana is removed by meditation and what is called Sadhana.

According to the Vedanta system of philosophy, the Universe is not real but Kashmir Saivism upholdss the world as real since it is the manifestation of Siva. Siva is real and the real can bring forth only the real and not unreal.

The Vedanta permits the only chosen few to undergo the study of this phiosophy, but Kashmir 'Saivism is open to all, desirous to read it irrespective of caste, creed or colour.

'Saivism of Kashmir as such does not accept the universe as an outcome of Maya. The universe, to Kashmir 'saiva Scholar is manifestation of Divine consciousness. Divinity is always existant whether we know it or do not know it.

तस्मिन् ज्ञातेऽथवाऽज्ञाते
शिवत्वमनिवार्यतः ।

*

संस्कृतकाव्यशास्त्र में चमत्कारतत्त्व

प्रो. रामप्रताप पूर्वाचार्य
जम्मू तवी

चमत्कार पद का अर्थ

चमत् का अर्थ कान्ति, दीप्ति चाकचक्य आदि है और इसको करने वाले को चमत्कार कहते हैं। चमत्कारविचारचर्चा में कहा है-

चमत्करोति यः काव्ये चमत्कारः स उच्यते।
चमतोऽपरपर्यायश्चाकचक्यमुदीरितम्॥[1]

काव्य के पढ़ने से और नाटक के देखने से सहृदय के चित्त का विस्तार होता है और उसके मस्तिष्क में चकाचौंध उत्पन्न हो जाती है। परिणामतः उसे अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है।

उर्दू में चमत्कार को मोजिज़ा कहते हैं और अंग्रेजी में मिरेकल, चार्म, वण्डर, मार्वल आदि।

शिशुपालवध काव्य में चमत्कारशब्द का प्रयोग रमणीयता के अर्थ में किया गया है—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।[2]

जो रूप क्षण क्षण में नवीनता को धारण करता है वही रमणीयता अर्थात् सच्ची सुन्दरता का वास्तविक रूप है। यही अभिनवसौन्दर्य काव्य का सार तत्त्व है। इस अभिनवसौन्दर्य तथा अभिनवसौन्दर्यजनित काव्यानन्द को भी चमत्कार कहा जाता है। इस श्लोक में प्रयुक्त रमणीयता पद का अर्थ रैवतक पर्वत के प्रसङ्ग में वर्णित होने के कारण प्राकृतिक सौन्दर्यजनित चमत्कार के अर्थ तक ही सीमित है। किन्तु पण्डितराजजगन्नाथ ने रमणीयता पद को सम्भवतः यहीं से लेकर अपने काव्यलक्षण में सम्मिलित किया है।[3] वे इसका अर्थ प्राकृतिक सौन्दर्य तक सीमित न करके

---

1. चमत्कारविचारचर्चा 2,36
2. शिशुपालवध 4,171
3. रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वञ्चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः। रसगङ्गाधर 1,1 काव्यलक्षणप्रकरण

काव्यसौन्दर्य के अर्थ में प्रतिपादित करते हैं। उन्होंने रमणीयता का अर्थ चमत्कार बताया है। चमत्कार को जातिवाचक और अनुभवसाक्षी पदार्थ बताया है।

यहाँ रमणीयता पद से एक ओर प्राकृतिकसौन्दर्य की प्रतीति हो रही है तो दूसरी ओर कान्यसौन्दर्य का ज्ञान हो रहा है। इसी प्रकार रूप पद से एक ओर रमणीयता का आकार या स्वरूप अर्थ प्रतीत हो रहा है दूसरी ओर **रूप्यते लक्ष्यते अनेनेति रूपम् लक्षणम्** यह अर्थ ज्ञात हो रहा है। इस भाँति रूप पद के दो अर्थ हो सकते हैं। 1. रूप–आकार या स्वरूप, 2. रूप–लक्षण (परिभाषा)।

अग्निपुराण में परमब्रह्म से होने वाली आनन्दाभिव्यक्ति के तीन पर्याय बताये हैं–1. चैतन्य, 2. चमत्कार और 3. रस।[1]

संस्कृतकाव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्य चमत्कारशब्द का प्रयोग इसी काव्यास्वाद के अर्थ में करते रहे हैं।[2] वैसे चमत्कार का अभिप्राय उस नई सूझबूझ वाली पर्याय के रूप में आनन्दवर्धन द्वारा प्रयुक्त स्फुरित, स्फुरणा एवं चमत्कृति शब्दों को रखा जा सकता है। ध्वन्यालोक में कहा है—

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
स्फुरणेयं काचित्सहृदयानामुत्पद्यते।[3]

जहाँ जिस वस्तु के विषय में लोगों (सहृदयों) के मन में यह कोई नई सूझ (स्फुरित या स्फुरणा) है इस प्रकार की अनुभूति होती है नई या पुरानी जो भी हो वही वस्तु रम्य (चमत्कारमयी) कहलाती है।

यह कोई अनिर्वचनीय स्फुरणा (नया विचार या न्यू आइडिया) है इस रूप में सहृदयों के चित्त के भीतर चमत्कार उत्पन्न होता है। यहाँ रमणीय स्थल से उत्पन्न आनन्द के अर्थ में स्फुरित

---

1. अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥ — अग्निपुराण 3,339, 1-2

2. (क) विस्मयापरपर्यायश्चमत्कारः सर्वरसप्राणभूतः।
काव्यप्रकाश 4,28 दीपिकाटीका

(ख) चमत्कारः साक्षात्काररूप आस्वादः।
काव्यप्रकाश 4,28 आदर्शटीका

3. ध्वन्यालोक 1,16 तथा वृत्ति

एवं स्फुरणा शब्दों का प्रयोग किया गया है। आनन्दवर्धन के द्वारा समानार्थ में प्रयुक्त स्फुरित, स्फुरणा और चमत्कृति तीनों शब्द अर्थ की दृष्टि से प्रतीयमानार्थ का प्रतिपादन करने वाले ध्वनिसम्प्रदाय के साथ तो प्रत्यक्ष तथा चमत्कार सम्प्रदाय के साथ जुड़ा हुआ है।

अभिनवगुप्त ने पूर्ण तृप्तिदायक निर्विघ्न आत्मप्रतीति को चमत्कार कहा है। इसमें कम्पनादि होते हैं और मन में चमक सी उत्पन्न होती है। इस काव्यानन्द के भोगावेश, निर्वेश, रसन, आस्वाद आदि भी नाम हैं।[1]

काव्याप्रकाश की दीपिका में चमत्कार का अर्थ विस्मय बताया है और इसकी आदर्शटीका में साक्षात्काररूप आस्वाद अर्थ उल्लिखित है।[2]

रामायणचम्पू के टीकाकार रामचन्द्र ने चमत्कारपद में विद्यमान चमत् को अनुकरणमूलक माना है। इसे सुखदुःखादिजन्यहर्षादि से उत्पन्न होने वाला चित्तविकार बताया है। इसमें शरीर के अङ्गों में उल्लास होने से सीत्कार (सी सी जैसी आवाज़ें) भी होती हैं।[3]

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में चमत्कार को निवस्मय का पर्यायवाची शब्द माना है। इन्होंने अपने प्रपितामह नारायणदास की उक्ति को उद्धृत करते हुए चमत्कार को सब रसों का प्राण कहा है। धर्मदत्त ने अपने ग्रन्थ में नारायणदास की उक्ति उद्धृत की है जिसमें रस को चमत्कार का सार (स्थायिभाव) माना है। चमत्कार या विस्मय शृङ्गारादिरसों का स्थायिभाव है और सभी रसों में विस्मयतत्त्व होने से सारे रसों में अद्भुत रस भी समाया रहता है।[4]

---

1. सा चाविघ्ना संवित् चमत्कारः। तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादिविकारश्चमत्कारः। स चातृप्तिव्यतिरेकेणाविच्छिन्नो भोगावेश इत्युच्यते। मनश्चमत्करणं चमत्कार इति। तथाहि लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादन-भोगसमापत्तिलयाविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते।—भरतनाट्यशास्त्र 6,32 अभिनवभारती टीका
2. (क) विस्मयापरपर्यायश्चमत्कारः सर्वरसप्राणभूतः। काव्यप्रकाश 4,28 दीपिकाटीका।
   (ख) चमत्कारः साक्षात्काररूप आस्वादः। काव्यप्रकाश 4,28 आदर्शटीका।
3. सचमत्कारं चमत्कारसहितं यथा तथा चमदित्यनुकरणशब्दः।
   चमत्कारलक्षणं तु सुखदुःखाद्भुतानन्दैर्हर्षाद्यैश्चित्तविक्रिया।
   चमत्कारः ससीत्कारः शरीरोल्लासनादिभिः। रामायणचम्पू युद्धकाण्डः लक्ष्मणोक्तिः।
   वी० राघवन् सम् कन्सैप्ट्स ऑफ अलङ्कारशास्त्र पृ० 294
4. चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः। तत्प्राणत्वं चास्मद् वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्य-श्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्। तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे—
   रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
   तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।
   तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्॥ इति
   साहित्यदर्पण 3,3 के ऊपर वृत्ति

काव्यप्रकाश की दीपिकाटीका में विश्वनाथ के पितामह के अनुज चण्डीदास ने भी विस्मयापरपर्याय चमत्कार को सारे रसों का प्राण बताया है। उसी के तत्तद्रागादि की प्रमुखता होने से शृङ्गारादि भेद बताये हैं। जहाँ वे प्रमुख नहीं होते हैं वहाँ अद्भुत रस होता है।[1]

विश्वनाथ ने अपने द्वारा लिखित काव्यप्रकाश की दर्पणटीका में अपने पितामह श्रीमन्नारायणदासपाद का वह मत उद्धत किया है जिसमें चमत्कार को सारे रसों का प्राण माना गया है और उसके साथ रागादि का मिश्रण होने पर शृङ्गारादि नाम होते हैं।[2]

विश्वेश्वर कविचन्द्र ने भी कहा है कि चमत्कार विद्वानों के लिए आनन्द के प्रवाह को प्रवाहित करने वाला है।[3] पण्डितराजजगन्नाथ का कहना है कि चमत्कार एक विशेष प्रकार के आनन्द का नाम है। इस आनन्द के अस्तित्व का प्रमाण सहृदयों का अपना हृदय है। अभिप्राय यह है कि इस चमत्कार का अनुभव सहृदयों को अपने हृदय में होता है यही बात चमत्कार की सत्ता में प्रमाण है। इस प्रकार काव्यानन्द अनुभवसिद्ध तत्त्व है। उपमादिगतसौन्दर्य ही चमत्कार का आधान करता है।[4] वागीश्वर विद्यालङ्कार ने बताया है कि घनान्धकार में चमकने वाली बिजली की तरह चमक को पैदा करने वाला तत्त्व चमत्कारपद से अभिहित किया जाता है।[5]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चमत्कार वह तत्त्व है जो चेतनरूप है और सहृदय के चित्त में दीप्ति या चमक को पैदा करता है। चमत्कार के सम्बन्ध में इसी अर्थ को लेकर इस

---

1. चमत्करोति—अतिशयोक्तिरूपकाव्यपरिशीलनाद भवति विस्मयापरपर्यायश्चमत्कारः सर्वरसप्राणभूतः। तस्य रागाङ्गप्रवणत्वेन यथायथं शृङ्गारादिव्यवहारः तदभावे त्वद्भुतव्यपदेशः इत्यस्मत् प्रपितामहश्रीमन्नारायणपादै स्त्रिकलिङ्गेन्द्रश्रीनृसिंहदेव-चक्रवर्तिगोष्ठीगरिष्ठानां पुरतो धर्मदत्तमहाकविः स्थगितः। काव्यप्रकाश 4,28 वृत्ति पर दीपिकाटीका
2. सकलसहृदयगोष्ठीगरिष्ठास्मत्स्वपितामहश्रीमन्नारायणदासपादाश्चमत्कार एव सकलरसप्राणभूतः तस्य रागाद्यंशशबलत्वे यथायथं शृङ्गारादिव्यदेशः। तदभावे त्वद्भुतव्यपदेशः इति कविभिः काल्पनिकं भेदमुररीकृत्योक्तम्।
काव्यप्रकाश 4,28 वृत्ति दर्पणटीका
3. चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरीवाहकृत्। चमत्कारचन्द्रिका। पृ०
4. (क) चमत्कृतरानन्दविशेषः सहृदयहृदयप्रमाणकः।
रसगङ्गाधर द्वितीय आननए उपमालक्षण वृत्तिभाग
(ख) सौन्दर्यञ्च चमत्कृत्याधायकत्वम्।
रसगङ्गाधर द्वितीय आनन, उपमालक्षण वृत्तिभाग
5. चमत्कारविचारचर्चा, शुभाशंसा 3,9,7 कारिका
(क) चमत्कार विचारचर्चा कारिका 113
(ख) विद्युत्समुन्मेष इवान्ध्कारे करोति या चेतसि चाकचक्यम्।
वक्रोतिदवैचित्र्यविरोधिताद्यैश्चितिश्चमत्कारपदोदिताऽ सौ॥
वैदिकसाहित्यसौदामिनी 2,3

लेख के लेखक ने अपनी कृति चमत्कारचर्चा में विस्तार से विवेचन किया है।[1]

चमत्कार का एक लोकप्रसिद्ध अर्थ करामात या करिश्मा भी होता है। कोई ऐसी बात या घटना जो प्राकृतिक नियमों का भाग या परिणाम न हो जिसे तर्क द्वारा प्रामाणित न किया जा सके जिसका आधार केवल आस्था या विश्वास होता है वह चमत्कार या करिश्मा के अन्तर्गत आती है। यदि किसी बाबा, सन्त महात्मा, गुरु, औलिया के आशीर्वाद के द्वारा किसी को मनोवाञ्छित वस्तु मिल जाती है अथवा उसके संकट, दु:ख का छुटकारा हो जाता है उसे उस महान् विभूति का चमत्कार समझा जाता है। सभी प्रमुख धर्मग्रन्थों में इस प्रकार के चमत्कारों की कथायें प्रचुरमात्रा में मिलती हैं। कुछ ऐसी योग क्रियायें होती हैं जिनसे तीव्रता से शरीर को लाभ मिलता है, उनको भी यौगिकचमत्कार का नाम दे दिया जाता है। इसी प्रकार अलौकिक पुरुषों द्वारा किये गये अलौकिक कार्यों को भी चमत्कार कहा जाता है। हनुमान् के द्वारा समुद्रलङ्घन और सञ्जीवनी बूटी लाने के लिए पर्वत को उखाड़कर ले आना आदि इसी प्रकार के चमत्कार के भीतर आता है। संस्कृतसाहित्य के काव्य, नाटक एवं काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ इसी प्रका की अलौकिक घटनाओं से भरे हुए हैं।

काव्य का मूलतत्त्व चमत्कार

संस्कृतकाव्यशास्त्र में प्राचीन काल से आधुनिक काल तक काव्यान्तर्वर्ती मूलतत्त्व को लेकर विवाद चलता आया है। काव्य में ऐसा कौन सा जीवनाधायक मूलतत्त्व (सूक्ष्म बीज) है जिसके कारण काव्य काव्येतर इतिहासपुराणादि से पृथक् सत्ता रखता है। अलौकिक आनन्द को प्रदान करने वाले काव्य में निश्चित रूप से अलौकिक मूलतत्त्व की सत्ता अनुभव की जाती है। इस विषय में कवियों, आचार्यों और समीक्षकों में से किसी के भी द्वारा असहमति या विरोध नहीं किया जाता। सभी के द्वारा काव्य के भीतर पाये जाने वाले उस आनन्द की अपने हृदय में अनुभूति की जाती है। किन्तु इस मूल काव्यतत्त्व की व्याख्या भरतादि आचार्यों ने रसादितत्त्वों के साथ जोड़कर अपने अपने ढंग से की है जिसके आधार पर संस्कृत काव्यशास्त्र में छ: काव्यसम्प्रदाय प्रचलित हो गये हैं। तत्तत्सम्प्रदाय से सम्बद्ध आचार्यों ने रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य को काव्य की आत्मा या काव्य का प्राण बताकर काव्य के मूल तत्त्व को अपनी अपनी दृष्टि से स्पष्ट किया है। विश्वेश्वर कविचन्द्र, पण्डितराजजगन्नाथ आदि कतिपय आचार्यों ने काव्यान्तर्वर्ती चमत्कारतत्त्व को मूलकाव्यतत्त्व बताया है।

---

1. चाकचक्यं विधत्ते य: सहृदयस्य चेतसि।
चितिरूपश्चचमत्कार: काव्यसर्वस्वमुच्यते॥
रामप्रतापकृत चमत्कारविचारचर्चा, 3,113 तथा अन्य कारिकायें

मानवीय हृदय को प्रभावित करने में कलाओं का अलौकिक स्थान है। चित्रकला, संगीत आदि ललित कलायें मानवचित्त को आह्लादित करती हैं। इन कलाओं और काव्यकला में चमत्कार नामक काव्यतत्त्व इनके भीतर ओत-प्रोत होकर रहता है। इस सारतत्त्व के बिना ये कलायें निरर्थक सिद्ध हो जाती हैं। इनका अस्तित्व और अनस्तित्व इसी तत्त्व पर निर्भर है। सभी प्रकार के काव्यों में यह आदि से अन्त तक पाया जाता है। काव्य के इस जीवनाधादय तत्त्व को चमत्कार कहा जाता है। चमत्कारवादी आचार्य इसको काव्य की आत्मा मानते हैं। इस चमत्कारतत्त्व की अभिव्यक्ति रस, अलङ्कार रीति आदि साधनों से की जाती है। इस कारण काव्य में रसादि साधन हैं और चमत्कार उनका साध्य है। इन उपादान कारणों से चमत्कार रूपी कार्य निष्पन्न होता है।

वस्तुतः भारतादि प्राचीन आचार्यों ने जिन-जिन काव्यसम्प्रदायों का प्रवर्तन और प्रतिपादन किया वे अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण तो थे किन्तु किसी ऐसे सर्वसम्मत काव्य सत्य को उजागर करने में असमर्थ रहे। रस, अलङ्कार आदि सम्प्रदायों को प्रतिपादित करते समय दो आचार्य अपनी-अपनी परिधियों और आग्रहों से जकड़े हुए थे। मूल काव्य सत्य चमत्कार इनकी पहुँच से जाने-अनजाने बाहर रहा। चमत्कार तत्त्व का अपना विशिष्ट स्थान है। वह इन सब रसादि तत्त्वों में रहते हुए भी इनमे कुछ भिन्न एवं विलक्षण हैं। चमत्कार को मूल काव्य सत्व स्वीकार करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं आती। जब तक इसकी तुलना में कोई अन्य काव्य तत्त्व नहीं जान लिया जाता तब तक इसे अन्य रसादि तत्त्वों की तुलना में अधिक महत्त्व दिया जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य की चरम परिणति चमत्कार के रूप में होती है। रसादि साधन हैं और चमत्कार साध्य। अतः इन तत्त्वों को काव्य की आत्मा न मानकर चमत्कार का साधन मानना अधिक युक्ति संगत है। इन रसादि तत्त्वों में से प्रत्येक को काव्य की आत्मा मानने के स्थान पर चमत्कार को एकमात्र की कमी आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित करना चाहिए। चमत्कार को मूल काव्य सत्व मानने के इस प्रसंग में कतिपय परिकरश्लोक में इस प्रकार हैं—

चमत्कारं बिना काव्यं न कदाश्चन शोभते।
देहोप्येष विनात्मानं जुगुप्सां तनुते भृशम्॥

काव्यस्यात्मा चमत्कारः काव्यसारश्चमत्कृतिः।
लोकोत्तरमिदं तत्त्वं काव्ये कथमुपेस्यते॥

सर्वेषां सम्प्रदायानां ये नास्ति सम्प्रदायता।
चमत्कारः कथं सोऽयं सम्प्रदायो न कथ्यते॥

चाकचक्यं विद्यते यः सहृदयस्य चेतसि।
चितिरूपश्चमत्कारः काव्यसर्वमुच्यते॥

चमत्कारात्मके काव्ये तदङ्गानि रसादयः।
अङ्गीभूयोपकुर्वन्ति पुष्णन्ति तं च सर्वदा॥

रसे सारश्चमत्कारो रीतौ सारश्चमत्कृतिः।
ध्वनौ सारश्चमत्कारः सोऽलङ्कारेऽपि वर्तते॥

रससारश्चमत्काररूपं बिना न रसो रसः।
सैव सारवे ध्वनेश्चापि तं बिना न ध्वनि र्ध्वनिः॥

वास्तव में चमत्कार चारुत्व, विच्छित्ति रमणीयता सुन्दर काव्य सत्व और सौन्दर्य नामक तत्त्व विशेष एक ही है। किन्तु विभिन्न आचार्यों ने इस तत्त्व को विभिन्न नामों से भी इसी के नाम से अभिहित किया है। सर्वोच्च सत्ता एक परमात्मा को जैसे उनके नाम दिये गये हैं वैसे ही काव्याभर्वती चमत्कार तत्त्व को विविध नावं अनेक नामों से प्रतिपादित किया गया है। यह बात वेद मन्त्रों में दिये हुए अन्तः साक्ष्य से सिद्ध हो जाता है।

एक होते हुए भी उसको विद्वान् लोक अनेक प्रकार से कहते हैं। उसे अग्नि, यम, मातरिश्वा (वायु) कहते हैं। उस ज्ञानस्व रूप को इन्द्र, मित्र, वरुण कहते हैं। और वह दिव्य सम्यग् ज्ञानवान्, उत्कृष्ट पालन शक्तिमान् और गौरव प्राप्त है।

वही पूर्ण पुरुष अग्नि नाम वाला है वही आदित्य नाम वाला वही वायु और वही चन्द्रमा, वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही आप (जल) और वही प्रजापति है।

प्रमुख स्मृतिशास्त्र एवं उनका प्रतिपाद्य

प्रो. व्रजबिहारी चौबे
होशियारपुर

श्रुति और स्मृति हिन्दू धर्म के प्रमुख आधार ग्रन्थ हैं। इनमें श्रुति सभी धर्मों का उत्स है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इस कथन के द्वारा मनु ने श्रुति को सभी धर्मों का मूल माना है। सभी स्मृतियों ने उसी से अपना दाय ग्रहण किया है। कोई ऐसी स्मृति नहीं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वेद के उपजीव्यत्व को नहीं स्वीकार करती। वस्तुत: सभी स्मृतियाँ वेद पर ही आधारित हैं। भारतीय परम्परा दोनों को धर्म में प्रमाण मानती हुई भी दोनों में एक सूक्ष्म भेद दिखाती है। स्वयं मनु श्रुति को वेद मानते हैं और स्मृतियों को धर्मशास्त्र। श्रुति अथवा वेद धर्म का उत्स है और स्मृतियाँ धर्मशास्त्र हैं। यहाँ यह प्रश्न खड़ा हो सकता है कि जब वेद सभी धर्मों का मूल है, तब वह धर्मशास्त्र क्यों नहीं? वस्तुत: धर्म-समुद्र है जिसमें धर्मविषयक सभी शाश्वत् तत्त्व समाहित हैं। विश्व-व्यवस्था को धारण, संचालन एवं नित्य गतिमान रखने वाली जितनी दिव्य शक्तियाँ हैं, वे जिन विद्याओं के आधार पर अपना कार्य सम्पादित कर रही हैं, वे सभी विद्यायें वेद में हैं। वे विद्यायें दिक्-देश काल की सीमाओं में सीमित नहीं। उन्हीं विद्याओं को जानने या प्राप्त करने के लिये जिस आचरण और व्यवहार की मानवजीवन में आवश्यकता है उसका सम्यक् प्रकार से व्यवस्थित विवेचन स्मृतियाँ करती हैं। सभी वेदमूलक होने पर भी इनमें देश-दिक्-काल की सापेक्षता है। इस दिक्-देश-काल की सापेक्षता होने के कारण इनमें परस्पर विविधता भी है।

दिक्-देश-काल की सापेक्षता के कारण बदलते परिवेश में स्मृतिकारों की यह जिम्मेवारी भी बन जाती है कि वे आचार-व्यवहार के विषय में तद्युगीन व्यवस्था दें। 'कालभेदेन धर्मभेद:' अर्थात् कालभेद से धर्मभेद हो जाता है। इसलिये इस धर्मभेद को तत्कालीन समाज में सुव्यवस्थित रूप से अनुशासित करने के कारण स्मृतियों का शास्त्रत्व है।

मानव जीवन के चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। भारतीय परम्परा के अनुसार इन चारों की प्राप्ति का साधन वेद है। किन्तु वेद में इनको प्रकरणश: सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है। इन धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप पुरुषार्थों के व्यवस्थित स्वरूप का अनुशासन करने वाला ग्रन्थ शास्त्र है। धर्म का अनुशासन करने वाला धर्मशास्त्र, अर्थ का अनुशासन करने वाला अर्थशास्त्र, काम का अनुशासन करने वाला कामशास्त्र, तथा मोक्ष का अनुशासन करने वाला मोक्ष-शास्त्र है। यह उल्लेखनीय है कि धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय का साधन वेद है,

किन्तु वह धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र नहीं है। वेदों से ही धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षविषयक तत्त्वों को लेकर परवर्ती आचार्यों ने तत्तत् शास्त्रका निर्माण किया। तत्तत् शास्त्रों के प्रणेता आचार्य हैं, किन्तु वेदों के द्रष्टा आचार्य नहीं, बल्कि ऋषि हैं। वेद अथवा श्रुति शास्त्र नहीं और शास्त्र श्रुति अथवा वेद नहीं, किन्तु श्रुति शास्त्र का आधार है, इसका प्रमाण मनु का यह वचन भी है—

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ (मनु॰ 2.7)

अर्थात्, जो कुछ किसी का भी धर्म मनु ने अपने धर्मशास्त्र में कहा है, वह सब वेद में पूर्व से ही वर्तमान है, क्योंकि वह वेद सम्पूर्ण विद्याओं का भण्डार है।

वेद और शास्त्र ये दोनों धर्म के आधार पर भी इनमें पार्थक्य है, यह तथ्य दोनों का व्यवहार पृथक्-पृथक् शब्दों से होने से भी सिद्ध होता है। मनु स्वयं कहते हैं—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन्त्स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ (मनु॰ 12.102)

अर्थात् वेद और शास्त्र के तत्त्वार्थ को जानने वाला व्यक्ति जिस किसी भी आश्रम में रहता हुआ इह लोक में स्थित होता हुआ अभ्युदय को प्राप्त कर ब्रह्मभाव की भी अनुभूति करता है। इस श्लोक में 'वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ' का अर्थ 'वेदशास्त्र के तत्त्वार्थ को जानने वाला' है। कोई श्रुति और शास्त्र को एक न मान ले, इसलिये मनु एक अन्य श्लोक में स्पष्ट करते हुये लिखते हैं—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥ (मनु॰ 2.10)

अर्थात् श्रुति वेद है और स्मृति धर्मशास्त्र है। धर्मविषयक सभी मामलों में ये दोनों प्रमाण हैं। क्योंकि इन्हीं दोनों से धर्म प्रवृत्त हुआ है। यहाँ श्रुति और स्मृति में पार्थक्यबोध कराने का हमारा विशिष्ट प्रयोजन है। स्मृतियों में देश-काल विशेष से कही बात आज के बदले परिवेश में कहीं असंगत सी भी प्रतीत होने लगी है और इस कारण स्मृतियों की आलोचना के साथ-साथ स्मृतियों के वेदमूलक होने से कुछ लोग वेदों की भी आलोचना करने लग जाते हैं, जो उचित नहीं। 'न स्त्रीणां स्वातन्त्र्यमर्हति' यह स्मृतिवचन दृष्टान्त के लिये प्रस्तुत किया जाता है। आज स्मृति में कही बात यदि असंगत प्रतीत होती है तो इसका मतलब यह नहीं कि वेद की भी निन्दा की जाय। धर्म के प्रमाण में मनु ने चार साक्षी प्रस्तुत किये हैं—वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मप्रिय। मनु स्वयं कहते हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ (मनु॰ 2.12)

अर्थात् वेद, स्मृति, सदाचार और स्वयं अन्तःकरण को प्रिय लगना ये चार धर्म के साक्षात् लक्षण हैं, ऐसा ज्ञानियों ने कहा है। याज्ञवल्क्य इन चार लक्षणों के साथ एक पाँचवा लक्षण 'सम्यक् संकल्प से उत्पन्न काम' को भी बताते हैं—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥ (याज्ञ० 1.7)

यहाँ याज्ञवल्क्य का 'सम्यक् संकल्पजः कामः' वैदिक यज्ञों की ओर संकेत करता है जिनका सम्पादन निश्चित रूप से सम्यक् संकल्पपूर्वक किया जाता है। सम्यक् संकल्प और सामान्य संकल्प में अन्तर है। सम्यक् संकल्प निश्चित रूप से दिव्य होगा और उसका परिणाम सबके लिये कल्याणमय होगा, जबकि सामान्य संकल्प व्यक्ति विशेष के लाभ के लिये होगा। यह बात उल्लेखनीय है कि वेद, स्मृति, सदाचार, आत्मप्रिय और सम्यक् संकल्पज काम ये जो धर्म-प्रमाण माने गये हैं इनमें पूर्व-पूर्व पर-पर की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। सम्यक् संकल्पज काम से श्रेष्ठ अन्तःकरण को प्रिय लगना है, अन्तःकरण को प्रिय लगने से सदाचार श्रेष्ठ है सदाचार से स्मृतिप्रमाण श्रेष्ठ है क्योंकि वह वेदार्थ जानने वाले ब्रह्मवादियों की स्मृति पर आधारित है, स्मृति से श्रुति श्रेष्ठ है, क्योंकि श्रुति साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के अन्तःकरण में उनकी तपस्या के कारण स्वयं प्रकट हुई है। इस प्रकार श्रुति परम प्रमाण है।

यह बात उल्लेखनीय है कि मनु श्रुति को परम प्रमाण उन लोगों के लिये मानते हैं जो अर्थ और काम में आसक्त नहीं है और जो धर्म को जानने की जिज्ञासा रखते हैं। मनु कहते हैं—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ (मनु० 2.13)

मनु ने श्रुति या वेद रूप में जिसका उल्लेख किया है वह जहाँ एक तरफ सृष्टिविद्यात्मक है वहाँ दूसरी तरफ मन्त्र-ब्राह्मणात्मक भी है। सम्पूर्ण संहितायें तथा ब्राह्मण श्रुति के अन्तर्गत आते हैं। इनमें प्रतिपादित धर्म के आधार पर ही सूत्रकाल में वेदाङ्गों के अन्तर्गत 'कल्पसूत्र' नामक एक शास्त्र का प्रवचन आचार्यों के द्वारा किया गया जिसके चार भाग हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा शुल्ब सूत्र। श्रौतसूत्रों में वैध यज्ञों का सम्पूर्ण रूप में सुव्यवस्थित ढंग से प्रतिपादन किया गया है, इसलिये श्रौतसूत्र ही धर्मशास्त्र है, जिनके आधार पर मीमांसा दर्शन का प्रणयन हुआ। गृह्यसूत्र व्यक्ति के जीवन को सुसंस्कृत बनाने के लिये संस्कारों का विधान करते हैं, इसलिये वे संस्कारशास्त्र हैं। धर्मसूत्र व्यक्ति, परिवार तथा समाज को अनुशासित करते हैं, इसलिये वे आचार एवं व्यवहार शास्त्र हैं। यद्यपि वेद अप्रत्यक्ष रूप से सभी स्मृतियों का आधार है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से गृह्य सूत्र तथा धर्मसूत्र ही स्मृतियों के आधार ग्रन्थ हैं। जिन विषयों का विवेचन गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में किया गया है वे ही सब विषय स्मृतियों में प्रतिपादित हैं। कुछ ऐसे भी विषय तथा रीति-रिवाज हैं, जो

गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में विवेचित नहीं हैं, किन्तु देश और काल के अनुसार नये परिवेश में नई जातियों-उपजातियों-प्रजातियों की सत्ता में आने के कारण लोकाचार में प्रचलित हो गये थे, उनका भी विवेचन स्मृतियों में मिलता है। इस प्रकार वैदिकोत्तर हिन्दू समाज की जीवन पद्धति को देशकाल के अनुसार अनुशासित करने की दिशा में स्मृतियों की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अपने देश काल के लिये वे ही अत्यन्त प्रामाणिक धर्मशास्त्र हैं जिनका पालन उस देश-काल में सबके द्वारा किया जाता था। सबका आचार-व्यवहार स्मृतियों के द्वारा अनुशासित था, उल्लंघन करने वाले दण्डनीय होते थे।

स्मृतियों की संख्या—स्मृति संख्या में कितनी हैं इस विषय में पर्याप्त मतभेद है। पाण्डुरंग वामन काणे ने 'धर्मशास्त्र का इतिहास' के तृतीय भाग के अन्त में जो धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ-सूची दी है उसमें लगभग एक सौ स्मृतियों का उल्लेख किया है जो प्रकाशित है, अथवा हस्तलेख रूप में है, अथवा अन्य आचार्यों द्वारा उनके ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। कुछ ऐसी भी स्मृतियाँ आज उपलब्ध हैं जिनका उल्लेख पी.वी. काणे ने अपने 'धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ सूची में' नहीं किया है। अब तक जितनी स्मृतियाँ उपलब्ध हैं, या जिनका नामोल्लेख मिलता है उनकी सूची वर्णानुक्रम से इस प्रकार है—

अत्रिस्मृति	कुमारस्मृति	बुधस्मृति
अरुणस्मृति	क्रतुस्मृति	बृहत्पाराशरस्मृति
आङ्गिरसस्मृति	गौतमस्मृति	बृहद् यमस्मृति
(पूर्वाङ्गिरस, उत्तराङ्गिरस)	दक्षस्मृति	बृहद् योगीयाज्ञवल्क्यस्मृति
आत्रेयस्मृति	दाल्भ्यस्मृति	बृहद् वसिष्ठस्मृति
आपस्तम्बस्मृति	देवलस्मृति	बृहद् विष्णुस्मृति
आश्वलायनस्मृति	नारदस्मृति	बृहस्पतिस्मृति
उपाङ्गिरस स्मृति	नारायणस्मृति	वैजवापिस्मृति
औशनस संहिता	पराशरस्मृति	बौधायनस्मृति
औशनसस्मृति	पितामहस्मृति	ब्रह्मोक्त याज्ञवल्क्यस्मृति
कण्वस्मृति	पुलहस्मृति	ब्राह्मणवधस्मृति
कपिलस्मृति	पैठीनस्मृति	भरद्वाजस्मृति
कवषस्मृति	प्रजापतिस्मृति	भृगुस्मृति
कश्यपस्मृति	बादरायणस्मृति	मनुस्मृति
कात्यायनस्मृति	बार्हस्पत्यस्मृति	मरीचिस्मृति

माण्डव्यस्मृति	लौगाक्षिस्मृति	शतक्रतुस्मृति
मार्कण्डेयस्मृति	वसिष्ठस्मृति	शाकलस्मृति
लघुपाराशरस्मृति	वाधूलस्मृति	शातातपस्मृति
लघुबृहस्पतिस्मृति	विश्वामित्रस्मृति	शुनःपुच्छस्मृति
लघुयमस्मृति	विश्वेश्वरस्मृति	शूद्रस्मृति
लघुवसिष्ठस्मृति	विष्णुस्मृति	शौनकस्मृति
लघुविष्णुस्मृति	वृद्धगौतमस्मृति	संवर्तस्मृति
लघु व्यासस्मृति	वृद्धशातातपस्मृति	सत्यव्रतस्मृति
लघुशंखस्मृति	वृद्धहारीतस्मृति	सदाचारस्मृति
लघुशातातपस्मृति	वृद्ध-अत्रिस्मृति	सप्तर्षिस्मृति
लघुशौनकस्मृति	वैखानसस्मृतिसूत्र	हारीतस्मृति
लघुहारीतस्मृति	वैशम्पायनस्मृति	होरिलस्मृति
लघ्वाश्वलायनस्मृति	व्यवहारांगस्मृति	
लिखितस्मृति	व्याघ्रस्मृति	
लोहितस्मृति	शंखस्मृति	

इन स्मृतियों में से जिन प्रमुख स्मृतियों का याज्ञवल्क्यस्मृति में उल्लेख किया गया है वे हैं[1]— (1) मनु, (2) अत्रि, (3) विष्णु, (4) हारीत, (5) याज्ञवल्क्य, (6) उशना, (7) अङ्गिरा, (8) यम, (9) आपस्तम्ब, (10) संवर्त, (11) कात्यायन, (12) बृहस्पति, (13) पराशर, (14) व्यास, (15) शंख, (16) लिखित, (17) दक्ष, (18) गौतम, (19) शातातप, (20) वसिष्ठ। इन स्मृतियों के अतिरिक्त नारदस्मृति भी प्राचीन मानी जाती है।

स्मृतियों का प्रतिपाद्य विषय—जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, स्मृतियों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय वही है जो गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों का है। इनमें आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त का मुख्य रूप से विवेचन किया गया है। आचार के अन्तर्गत गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त संस्कारों, चारों वर्णों के कर्म, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों में व्यक्ति के कर्तव्याकर्तव्य,

---

1. **मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोङ्गिराः। यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती॥ पराशरव्यासशंखलिखिता दक्षगौतमौ। शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः।** (याज्ञ. उपो. 4-5) स्मृतियों की संख्या के लिये द्रष्टव्य पाराशरस्मृति, 1.13.15

भक्ष्याभक्ष्य आदि का विवेचन किया गया है। चारों वर्णों तथा चार आश्रमों के कर्मों के अतिरिक्त राजा के भी कर्मों का विवेचन स्मृतियों में हुआ है। व्यवहार के अन्तर्गत राजा द्वारा सभी प्रकार के विवादों, जिनके द्वारा व्यावहारिक जीवन में गतिरोध आ जाता है, का समाधान करने की प्रक्रिया का विवेचन है। प्रायश्चित्त के अन्तर्गत विहित कर्म का पालन न करने तथा जानकर या अनजान में किसी भी प्रकार का पापकर्म करने, धर्म का उल्लंघन करने में जो अपराध होता है उसके अनिष्ट फल से बचने के लिए जिन व्रतादि कृत्यों को किया जाता है वे सभी आते हैं। सभी प्रकार के प्रायश्चित्तों की विधियाँ बताई गई है। सभी स्मृतियों का ध्येय है मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन को विकसित कर उनको धर्मपरायण बनाना। यह बात उल्लेखनीय है कि सभी स्मृतियों में सभी विषयों का विवेचन नहीं हुआ। थोड़ी ही ऐसी स्मृतियाँ हैं जिनमें समग्र विषयों का विवेचन है। अधिकांश स्मृतियों में किसी एक विशेष विषय का ही विवेचन है, जैसे उदाहरण के लिये नारद स्मृति केवल व्यवहार-प्रकरण का ही विवेचन करती है।

मनुस्मृति—मनुस्मृति 12 अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में उपोद्धात रूप में सृष्टि की उत्पत्ति का उल्लेख कर चारों वर्णों के कर्म का विवेचन है। विशेषरूप से ब्राह्मण को इस शास्त्र के अध्ययन के लिये अधिकृत किया गया है, क्योंकि उसी की यह जिम्मेवारी है कि सभी वर्णों को वह स्व-स्वविहित सदाचार मार्ग पर प्रवृत्त करे। द्वितीय अध्याय में वेद को सभी धर्मों का प्रमाण बताकर गर्भाधान से लेकर समावर्तन पर्यन्त संस्कारों का वर्णन किया गया है। इसमें विशेष रूप से ब्रह्मचारी के आचार धर्म का विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय में विवाह-संस्कार के विवेचन के प्रसंग में सपिण्ड विवाह का निषेध तथा असपिण्ड विवाह को मान्यता प्रदान की गई है। यहाँ आठ प्रकार के विवाहों—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस, पिशाच का उल्लेख है जिनमें पूर्व-पूर्व श्रेष्ठ तथा उत्तरोत्तर हेय बताये गये हैं। इसी अध्याय में गृहस्थ दम्पती के लिये विहित तथा निषिद्ध कर्मों का विवेचन किया गया है। यहीं पर पञ्च महायज्ञों का विधान किया गया है, जिनका अनुष्ठान उनके लिये अत्यन्तावश्यक कर्तव्य है। इसी अध्याय में श्राद्ध का भी विवेचन है। चतुर्थ अध्याय में यज्ञ, पूजा, अनुष्ठान एवं नित्य कर्मों का विधान किया गया है। पाँचवें अध्याय में भक्ष्याभक्ष्य, आशौच, शुद्धि आदि का विवेचन है। इस प्रकार प्रथम अध्याय से लेकर षष्ठ अध्यायपर्यन्त आचार-धर्म का ही विवेचन है। सप्तम-अध्याय में राजधर्म का विवेचन करते हुये राजा के सचिव, मन्त्रिगण, पुराध्यक्ष, सेनापति, दूत, दुर्गाध्यक्ष आदि का भी विवेचन है। अष्टम-अध्याय में न्याय संस्था का विवेचन है। इस प्रकरण में 18 प्रकार के विवादों का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार हैं[1]—(1) ऋणादान, (2) निक्षेप, (3) बिना मालिकी के बेच देना, (4) सांझादारी, (5) दान देकर ले लेना, (6) मासिक वेतन न देना, (7) शर्त को पूरा न करना, (8) बेचने व खरीदने के बाद पश्चाताप से उसे वापस करना, (9) नौकर-मालिक का झगड़ा, (10) खेत के सरहद की लड़ाई, (11) गाली-गलौज, (12) मारपीट, (13) चोरी, (14) अत्याचार, (15) स्त्री पर बलात्कार, (16) पतिपत्नी का विवाद, (17)

बटवारा या दायभाग, (18) जुआ तथा दाँव लगाकर पशुओं पक्षियों की लड़ाई कराना। इन 18 प्रकार के विवादों का निर्णय राजा को स्वयं या मन्त्रियों की सहायता से अथवा एतदर्थ मनोनीत ब्राह्मणों की सहायता से करना होता है। किस अपराधी के लिये क्या दण्ड है, इसका भी विधान यहाँ मिलता है। नवम अध्याय में स्त्रीधर्म का विवेचन है। दशम अध्याय में चारों वर्णों के धर्मों का विवेचन है। आपद्धर्म का भी यहाँ विवेचन किया गया है। एकादश अध्याय में दान, पातकोपपादक तथा प्रायश्चित्त का विवेचन है। बारहवें अध्याय में शुभाशुभ कर्मों के फल का विवेचन है। इस प्रकार मनुस्मृति का 12 अध्यायों में आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त सम्बन्धी विषयों का समग्र रूप में विवेचन किया गया है।

याज्ञवल्क्य स्मृति—मनुस्मृति की तरह याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इन्हीं आचार, व्यवहार, एवं प्रायश्चित्त से सम्बन्धित विषयों का विवेचन हुआ है, किन्तु मनुस्मृति की अपेक्षा इसमें कुछ नये विषयों का भी समावेश हुआ है। सम्पूर्ण याज्ञवल्क्यस्मृति तीन अध्यायों—आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय तथा प्रायश्चित्ताध्याय में विभक्त है। आचाराध्याय के अन्तर्गत 13 प्रकरण हैं—(1) उपोद्घातप्रकरण, (2) ब्रह्मचारिप्रकरण, (3) विवाहप्रकरण, (4) वर्णजातिविवेकप्रकरण, (5) ब्रह्मचारिप्रकरण, (6) स्नातकधर्मप्रकरण, (7) भक्ष्याभक्ष्यप्रकरण, (8) द्रव्यशुद्धिप्रकरण, (9) दानप्रकरण, (10) श्राद्धप्रकरण, (11) गणपतिकल्पप्रकरण, (12) ग्रहशान्तिप्रकरण (13) राजधर्मप्रकरण। यह बात उल्लेखनीय है कि गणपतिकल्पप्रकरण तथा ग्रहशान्तिप्रकरण में जो विषय विवेचित हैं वे मनुस्मृति में नहीं हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति का दूसरा अध्याय व्यवहाराध्याय है जो 25 प्रकरणों में विभक्त है—(1) साधारण व्यवहारमातृकाप्रकरण, (2) असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरण, (3) ऋणादानप्रकरण, (4) उपनिधिप्रकरण, (5) साक्षिप्रकरण, (6) लेख्यप्रकरण, (7) दिव्यप्रकरण, (8) दायविभागप्रकरण, (9) सीमाविवादप्रकरण, (10) स्वामिपालविवादप्रकरण, (11) स्वामिविक्रयप्रकरण, (12) दत्ताप्रदानिकप्रकरण, (13) क्रीतानुशय-प्रकरण, (14) अभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरण, (15) संविद्व्यतिक्रमप्रकरण, (16) वेतनादानप्रकरण, (17) द्यूतसमाह्वयप्रकरण, (18) वाक्पारुष्यप्रकरण, (19) दण्डपारुष्यप्रकरण, (20) साहसप्रकरण, (21) विक्रीयासंप्रदानप्रकरण, (22) संभूय-समुत्थाय प्रकरण, (23) स्तेयप्रकरण, (24) स्त्रीसंग्रहण प्रकरण, (25) प्रकीर्णप्रकरण।

याज्ञवल्क्यस्मृति का तृतीय-अध्याय प्रायश्चित्ताध्याय है जिसमें 6 प्रकरण हैं—(1) आशौचप्रकरण,

---

1. तेषामाद्यमृणादाननिक्षेपोऽस्वामिविक्रयः। सम्भूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः। क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके। स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च। पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह॥ (मनु० 8.4-7)

(2) आपद्धर्मप्रकरण, (3) वानप्रस्थधर्मप्रकरण, (4) यतिधर्मप्रकरण, (5) प्रायश्चित्तप्रकरण, (6) प्रकीर्ण- प्रायश्चित्तप्रकरण।

अन्य स्मृतियाँ—नारदस्मृति चार अध्यायों में केवल व्यवहार का विवेचन करती है। यह बात उल्लेखनीय है कि मनु जहाँ व्यवहार के अन्तर्गत 18 विषयों का विवेचन करते हैं तथा याज्ञवल्क्य 25 विषयों का विवेचन करते हैं वहाँ नारद स्मृति 132 विषयों का विवेचन करती है। **अत्रिस्मृति** में केवल शुद्धि, प्रायश्चित्त, दान, श्राद्ध तथा धर्माचरण का फल विवेचित है। **हारीतस्मृति** में केवल वर्णाश्रम धर्म का ही विवेचन है। **उशनस् स्मृति** ब्रह्मचारी के धर्म, श्राद्ध, आशौच, प्रेतकर्म तथा प्रायश्चित्त का विवेचन करती है। **आङ्गिरस स्मृति** भोजन, वस्त्रधारण, दान तथा प्रायश्चित्त का विवेचन करती है। **संवर्तस्मृति** ब्रह्मचर्य, विवाह, आशौच, प्रायश्चित्त, गोदान-माहात्म्य, वानप्रस्थ, यतिधर्म आदि का वर्णन करती है। **आपस्तम्बस्मृति** शुद्धि-अशुद्धि, वस्त्रधारण, विवाह, भोजन आदि का विवेचन करती है। **बृहस्पतिस्मृति** में सुवर्णदान, पृथिवीदान, भूमिहरण, तडागादि निर्माण आदि का विवेचन है। **कात्यायनस्मृति** यज्ञोपवीत, नित्यनैमित्तिक कर्म, श्राद्ध, स्नान, सन्ध्योपासन, तर्पण, पंचमहायज्ञ, विवाहनैमित्तिक कर्म, श्राद्ध, स्नान सन्ध्योपासन, तर्पण, पंचमहायज्ञ, विवाहाग्रिहोम, स्त्रीधर्म, मृतदाहसंस्कार, प्रायश्चित्त आदि का वर्णन करती है। **पराशरस्मृति** आचारधर्म, गृहस्थाश्रमधर्म, आशौच, प्रायश्चित्त, द्रव्यशुद्धि, स्त्रीशुद्धि, भक्ष्याभक्ष्य, अगम्यगमन, आदि का विवेचन करती है। **व्यासस्मृति** वर्णधर्म, संस्कार, विवाह, गृहस्थधर्म, स्त्रीधर्म, गृहस्थ के नित्यनैमित्तिक कर्म, तीर्थ, दान आदि का विवेचन करती है। **शंखस्मृति** चातुर्वण्य के पृथक्-पृथक् धर्म, गर्भाधान से लेकर उपनयन पर्यन्त संस्कार, ब्रह्मचर्य, विवाह, पंच महायज्ञ, वानप्रस्थ, प्राणायाम, स्नान, ध्यान, तर्पण, श्राद्ध, आशौच, द्रव्यशुद्धि, प्रायश्चित्त आदि का वर्णन करती है। **लिखितस्मृति** इष्टकर्म, पूर्तकर्म, बलिवैश्वदेवकर्म, अतिथिपूजन, सांस्कृतिक जीवन तथा आशौच आदि का वर्णन है। **दक्षस्मृति** आश्रमधर्म, वैदिकदिनचर्या, आशौच, समाधियोग, इन्द्रियनिग्रह, अध्यात्मयोग आदि का वर्णन करती है। **गौतमस्मृति** आचार, गृहस्थधर्म, आपद्धर्म, संस्कार, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, राजधर्म, दण्डविधान, अशौच, श्राद्ध, अनध्याय, भक्ष्याभक्ष्य, पापकर्मफल, सम्पत्तिविभाग आदि का विवेचन करती है। **शातातपस्मृति** अकृतप्रायश्चित्त, पूर्वजन्मकृत प्रायश्चित्त, सर्वपापप्रायश्चित्त, प्रकीर्ण रोगों का प्रायश्चित्त कुलध्वंस, मधु-तेल-धातुचोरी, अगम्यगम्य प्रायश्चित्त, अनुचित व्यवहारजनित प्रायश्चित्त आदि का विवेचन करती है। **बुधस्मृति** चातुर्वर्ण्यधर्म का विवेचन करती है। इन प्रमुख स्मृतियों का प्रतिपाद्य विषय का अवलोकन से यह बात स्पष्ट होती है कि इनमें आचारधर्म, शुद्धि, प्रायश्चित्त, वर्णाश्रमधर्म ही मुख्य रूप से विवेचित हुआ है। इनमें विषय-प्रतिपादन की समानता अधिक है।

Śabdaśaktimūladhvani :

A Philosophical Analysis

Prof. M.M. Agrawal
Delhi

In the opinion of Ānandavardhana, "Only that instance wherein is present a figure -an *alaṁkāra* that is not expressed directly by any word but conveyed solely by the suggestive power of the word itself, should be regarded as śabdaśaktimūla-dhvani".[1] It owes its origin to the use of certain homonyms i.e., *anekārthakaśabdas*. The homonyms convey more than one primary meaning wherefrom we gather the suggested meaning. In order to have two primary meanings as the basis of thesuggested menaing we must have only the homonymous words. If we change the order of the words or if we try to substitute other words of meanings suitable to the context. We do not have more than one primary meaning and the very basis being absent we also fail to have the suggested meaning. Since the words do not allow any alteration the words are taken to be chiefly responsible for cocnveying the suggested sense. That is why this type of *dhvani* is called śabdaśakti-mūladhvani. It may be noted that the criterion for classifying the figures as '*śabdāśakti-mūladhvani*' and '*Arthālaṁkāra*' is the possibility or otherwise of altering the words, i.e., *śabdaparivṛttisahamānatva* and *śabdaparivṛttya-sahamānatva*. This type of *dhvani* is said to be based on the capacity of the words because of the suggested sense being dependent on the use of words capable of conveying two primary meanings at a time, although the primary meanings also contribute to the rising of the suggested content. That, *śabdaśakti* means the peculiar capacity of the words to convey more than one conventional meaning at a time is clear from the Vṛtti[2] itself.

1. *Dhvanyāloka, Udyota* II, *Kārikā* 21.
2. *"ārthyapi ca pratipattistathāvidha viṣaya ubhayārtha-sambandha-yogya-śabda-sāmarthya-prasādhiteti śabda-śakti-mūlā kalpyate" Dhvanyāloka*, p. 252.

I. Śleṣālaṁkāra and śabda-śakti-mūla-dhvani

But it may be noticed that in *śleṣālaṁkāra* also there is the use of homonymous words. Then how can we distinguish *śabdaśakti-mūladhvani* from *śleṣālaṁkāra*?

To give an adequate reply Ānandavardhana says:

"ākṣipta evālaṁkāraḥ śabdaśaktyā prakāśate/
yasminnanuktaḥ śabdena śabdaśaktyudbhavo hi saḥ//[1]

The points of difference between *śleṣālaṁkāra* and *śabdaśaktimūladhvani* are as follows:

In *śleṣālaṁkāra* we have two matters of fact from the same set of words which do not brook any alteration. In other words, in *śleṣālaṁkāra* we have two matters of fact due to *śabdaśakti*; but in *śabdaśakti-mūla-dhvani* we have a suggested *alaṁkāra*, and not a matter of fact, based on the *śabdaśakti*. Cf. "*yasmādalaṁkāro na vastumātram...śleṣaḥ.*[2] These words have the further purpose of clarifying the point that in *śabdaśaktimūladhvani* we have a suggested *alaṁkāra* but not be translated as 'not only a matter of fact' because the word '*mātram*' does not have the usual sense of restriction here. Here and also elsewhere *Ānandavardhana* uses the term 'vastumātram' in a technical way to mean the matter of fact variety of the suggested sense.[3] Pratīhārendurāja also seems to have understood the expression '*vastumātram*' like this. Hence, compare his own clasificatin of *dhvani* where *vācakaśaktyāśrayavyañjakatva* corresponds to śabda-śaktyudbhava of Ānandavardhana. There he remarks: "*tatra vācaka-śaktyāśrayamalaṁkārāṇāmeva vyaṅgyatvāt Ehaprabāram. tatra hyalanikārā eva Vyajyante na tu Vastu mātram nāpi rasādayaḥ... Vācyaśaktyā śrayam tu rasādī-vastu mātrālaṁkārābhivyaktihetutrāt trividham...*"[4] If we are to understand the word '*mātram*' of the vṛtti as a restrictive particle we should also have an inclusive '*ca*' *or api*' after '*Yasmādalaṁkārā*'.

---

1. *Dhvanyāloka*, II.21.
2. Ibid., p.119
3. Cf. "*sa hyartho vācya-sāmarthyākṣipataṁ vastumātrama-laṁkārarasādayścetyaneka-prabheda-prabhinno darśayiṣyate*"--*Dhvanyāloka*, p. 13.
4. *Kāvyālaṁkāra-sāra-saṁgraha*, p. 89.

But it is said by earlier theorists like Udbhaṭa that in case of *śleṣālaṁkāra* also a further *alaṁkāra* may be discerned. Udbhaṭa's definition of *śleṣālaṁkāra* demands the use of homonymous words and points out the *śleṣālaṁkāra* invariably gives rise to the idea of an additional alaṁkāra.[1] Hence, Ānandavardhana observes that in *śleṣālaṁkāra* we have the additional *alaṁkāra* also as *vācya*, but in *śabda-śaktimūla-dhvani* the *alaṁkāra* is suggested but not expressly stated. For example in verse-

"tasyā vināpi hāreṇa nisargādeva hāriṇau/

janayāmāsatuḥ kasya vismayam na payodharau//[2]

the word '*hāriṇau*' is homonymous. In one case it means 'attractive' and in another case it means 'having a neck-lace'. Connecting the second meaning, i.e. '*having a hāra*' with *vināpi hāreṇa*' we have the figure '*Virodhābhāsa*' which is expressly conveyed because of the particle '*api*'. Thus we have a '*vācya-śleṣa*' and a '*vācya-virodhābhāsa*' on account of the same *śleṣa*.

In contrast with śleṣālaṁkāra, we have a case of *śabda-śakti-mūla-dhvani* in - ''*atrāntare kusumasamayayugamupasaṁharannajṛmbhata grīṣmābhidhānaḥ phulla-mallikā-dhavalāṭṭahāso mahākālaḥ.*''[3] Here we hae two portions, viz. the *viśesya* portion= 'mahākāla' and the *viśesana* portion = '*kusumasamayayugamupa-saṁharan*' etc. Mahākāla means the great season, i.e., summer.[4]

It may also mean the Lord Śiva. The viśeṣaṇa portion also has two meanings which may be differently applicable to the two meanings of the word '*mahākāla*'. An example of *śleṣālaṁkāra* is-

'yena dhvastamanobhavena..............

.../

...

pāyāt sa.....................sarvadomādhavaḥ//[5]

---

1. *Dhvanyāloka., Varga* IV, *Kārikās* 9-10
2. *Dhvanyāloka*, p. 120.
3. Ibid., p. 125.
4. ''*mahāṁścāsau dina-dairghya-durativāhatāyogātkālaḥ samayaḥ*''--*Dhvanyāloka-locana*, p. 259.
5. *Dhvanyāloka,* p.119.

Here the whole verse in homonymous and it may be applicable as a benediction soliciting the favour either of Mādhava, i.e., Viṣṇu or Umādhava, i.e., Śiva, the consort of Umā. Thus we have two completely different meanings from the same words as differently applicable to Viṣṇu and Śiva. So far we have no difference between *śleṣālaṁkāra* and *śabda-śaktimūla-dhvani* in respect of having more than one primary meaning. But the point of difference is that in *ślesālaṁkāra* both the meanings are contextual -- *prākaraṇika*. Since *'yena dhvastam...'* is a *maṅgala* verse, it may be equally applicable to Śiva and Viṣṇu. But in *'atrāntare...'* etc., where we should have only the description of the summer season, we are confronted with a meaning applicable to Śiva Mahākāla. The meaning applicable to Śiva is not contextual.

Whereas in case of *śleṣālaṁkāra* we accept both the primary meanings of the homonymous words, in case of *śabda-śakti-mūla-dhvani* we search for a relation of the non-contextual-*aprākaraṇika* meaning with the contextual. The idea of any such relation is not expressly stated, but conveyed to us as the suggested content of the piece. When the relation of similarity between the contextual and non-contextual content is suggested we have a suggested *Upamā.* When the suggested relation is that of identity we have *rūpaka*. When the relation is that of superiority we have the figure *vyatireka* as suggested. That is how in *śabda-śaktimūla-dhvani* we have a suggested *alaṁkāra,* whereas in *śleṣālaṁkāra* we need not as a rule have a suggested alaṁkāra.[1]

If however, the *alaṁkāra* which is suggested like this be pointed out by some other expressive word in the same instance we cannot call it a case of *śabda-śaktimūla-dhvani.* There we will have some *alaṁkāra* like *vakrokti.* For example, in the verse, ''*dṛṣṭyā keśava.......*', the expression *'saleśam'*, i.e., with equivocal words lays bare the whole trick and as such we cannot consider the present verse as a case of *'śabda-śaktimūladhvani'*.

II. Samāsokti and Śabda-śakti-mūla-dhvani

There is also scope for confusing *śabda-śakti-mūla-dhvani* with *samāsokti*. In *Samāsokti* also there is the use of homonymous words. For example, in the verse-

1. Compare: ''*eṣūdādaraṇeṣu śabdaśaktyā....śleṣādanusvānopamavyaṅgyasya dhvaner-viṣayaḥ*''-- *Dhvanyāloka*, p. 127.

"upoḍharāgeṇa vilolatārakaṁ
tathā gṛhītaṁ śaśinā niśāmukham/
yathā samastaṁtimirāṁśukaṁ tayā
puro'pi ragādgalitaṁ na lakṣitam//"[1]

Almost all the words of the verse are homonymous and the *Veśeṣaṇapadas* are applicable not only to the *niśā* and the *śāsī* but also to a *nāyaka* and a *nāyikā* as the case may be. Thus we have the suggested idea of the behaviour of a couple of lovers i.e., *nāyaka-nāyikā-vyavahāra*. Then why should it not present us a case of *śabada-śakti-mūla-dhvani* as in the case of '*atrāntare*', etc.? Udbhata gives the definition of samāsokti as-

"prakṛtārthena vākyena tatsamānairviśeṣaṇaiḥ/
ąprastutārthakathanaṁ samāsoktirudahṛtā//"[2]

Just as the meaning applicable to 'the great season' is *prastuta* and the meaning applicable to 'Lord Śiva' is *aprastuta*, we have the meaning applicable to '*niśā* and *śaśī*' as *prastuta* and that applicable to '*nāyaka* and *nāyikā*' as *aprastuta*. Moreover, Mammata expressly demands the use of homonymous words in *samāsokti*.[3] That is how the cases of *samāsokti* may be confused a *śabda-śakti-mūla-dhvani*. The distinction is, however, more clearly stated by Mammaṭa himself. In *śabda-śakti-mūla-dhvani* the *viśesya* is also presented through a homonymous word; whereas in *samāsokti* only the *veśeṣaṇas* are had through homonyms. From the word '*mahākāla*' itself we can have both the meanings 'Lord Śiva' and the 'great season' without any reference to the adjectives whereas the idea of a couple of lovers in '*upoḍharāgena*' is had only through a reference to the adjectives presented by the homonyms.

By the by, it may be pointed out that in Mammaṭa's "nirupādānasaṁhara"[4], given as an example of *śabda-śaktimūla-dhvani*, we should have a *vācyasamāsokti* since the *viśeṣya* portion is free from *śleṣa* and the same *alaṁkāra* suggests a

---

1. *Dhvanyāloka*, p.39.
2. *Kāvyālaṁkāra-sāra-saṁgraha*, Varga II, *Kārikā* 10.
3. Cf. "*paroktribhedakaiḥ śliṣṭaiḥ samāsoktiḥ*"--*Kavyaprakāśa, Sūtra* 147, p. 474.
4. *Kāvyprakāśa, Śloka* 57, p. 149.

vyatireka and as such it does not appear to be a sure case of *śabda-śaktimūla-dhvani*.

III. Only *alaṁkāra* is suggested in *śabda-śakti-mūla-dhvani*

As desired by Ānandavardhana in *śabda-śakti-mūladhvani* we have only an *alaṁkāra* as the suggested content and never a *vastu*. Pratīhārendurāja also recognises only an *alaṁkāra* as the suggested content in this type of *dhvani*.[1] But the theorists, Mammaṭa, Viśvanātha and Jagannātha would have a suggested *vastu* also in the *śabda-śakti-mūla-dhvani*. As the example of such a type the verse-

> ***panthia ṇa ettha sattharamatthi maṇaṁ pattharatthale gāme/***
> ***uṇṇaa paoharaṁ pekkhiūṇa jai vasasi tā vasasu//***[2]

is given both by Mammaṭa and Viśvanātha. Here the suggested sense as pointed out by mammaṭa is *'yadyupabhogakṣamo'si tadāssva'*. In this verse the word *'payodhara'* at least is homonymous and means either 'clouds' or 'breasts'. The suggested meaning is had because of the latter meaning. Since the word *'payodhara'* does not allow any alteration, the suggested sense is said to be based on the power of word. It cannot be gainsaid that the *vastu* as pointed out by Mammaṭa is suggested here. Hence, in order to accommodate this and similar cases, it appears necessary to recognise a *śabda-śakti-mūla-dhvani* with a suggestion of vastu also.

IV. Scope of abhidhā in śabda-śakti-mūla-dhvani

In *'atrāntare'* etc., we have three meanings, viz. the contextual-*prākaraṇika* description of the 'great season', the non-contextual-*aprākaraṇika* description of 'Lord Śiva' and the suggested *alaṁkāra*, i.e. the idea of similarity between the season and Lord Śiva. Here the meaning relating to the great season is decidedly *abhideya*, i.e. conveyed by abhidā and the *alaṁkāra* is decidedly vyaṅgya, i.e., suggested.

But there is difference of opinion regarding the status of the non-contextual meaning relating to Lord Śiva. According to the latter theorists like Mammaṭa and

---

1. *Kāvyālaṁkāra-sāra-saṁgraha*, p. 89.
2. *Kāvyaprakāśa, Śloka* 58, p. 150 and *Sāhityadarapaṇa*, p. 213.

Viśvanātha the non-contextual-*aprākaraṇika* sense is also suggested.[1] Their argument is that, once *abhidhā* is restricted to one of the many senses of the homonyms, it cannot function once again to convey another sense because of the rule: "*śabda-buddhi-karmaṇāṁ viramya vyāpārābhāvaḥ*"[2] "when a word, a cognitio and action cease after a single effort, there is no further exertion on thier part."

But according to Ānandavardhana both the *prākaraṇika* or *aprākaraṇika* senses had from the hononyms both in *śleṣālaṁkāra* and *śabda-śakti-mūla-dhvani* are conveyed by *abhidhā*. Even the theorists like Mammaṭa have more than one meaning from the homonyms in *śleṣālaṁkāra* as *abhideya*, all of them being *prākaraṇika*. As for Ānandavardhana the non-contextual meaning is also *abhidheya*, there is the scope for confusion of *śleṣālaṁkāra* with *śabda-śakti-mūla-dhvani* and necessity of clarifying the point of difference. That, for Ānandavardhana the non-contextual is also abhidheya is clear from his expression: "*vākyasyāsambaddhārthā-bhidhāyitaṁ mā prasāṅkṣīdityaprākaraṇika-prākaraṇikārthayorupamānopameya-bhāvaḥ kalpayitavyaḥ*".[3] -Ānandavardhana is not confornted with the maxim-'*śabda-būddhikarmaṇām*' etc., because of a reason conjectured below. It is sure that he did not have an occasion to refer to this maxim. That, Viśvanātha and others followed this maxim may be because of an influence of Abhinavagupta who observes "... *na karmeṇa viramya vyāpārābhāvāt....abhidhānāt.*"[4]

In between Ānandavardhana and Abhinavagupta, there were already many theorists to cherish different opinions regarding the function involved in conveyin the non-contextual meaning. These varying views are properly introduced by Abhinvaagupta with the expressions, '*atra kecinmanyante*', '*anye tu*', '*eke tu*' and

---

1. Cf. (i) "*śabdaśaktimūle tu abhidhāyā niyantraṇenānabhidheyasya arthāntarasya tena sahopamāderalaṁkārasya ca nirvivādaṁ vyaṅgyatvam*"--*Kāvyaprakāśa*, p. 218.
   (ii) "*anekārthasya śabdasya saṁyogādyairniyantrite/*
   ekatrārthe'nyadhīheturvyañjanā sābhidhāśrayā//
   Sāhityadarpaṇa, Pariccheda II, *Kārikā* 14.

   '*abhidhāśrayā-abhidhāmūlā=prākaraṇikamarthaṁ bodhayitvābhidhāyāṁ viratāyāma-prīkaraṇika-bodhe vyañjanā abhidhāntaramapekṣata iti*'--*Sāhityadarpaṇa-vivṛi*, p. 58.
2. Sāhityadarpaṇa, p. 57.
3. *Dhvanyāloka*, p. 127.
4. *Dhvanyāloka-locana*, p. 53.

'*itare tu*'.[1] Abhinavagupta's own view is that the meaning applicable to the 'great season' alone is *abhideya*. All the additional meanings are had by the suggestive function--*dhvanana-vyāpāra*.[2] And it may be noted that this was enough to tinge the views of latter writers beginning from Mammaṭa.

Ānandavardhana's view is, however, duly exponded in the following lines of the Locana--''*itare tu....ata evālaṁkāradhvaniriyamiti yuktam. vakṣyate ca 'asmbaddhārthābhindhāyitvaṁ mā prasāṅkṣīt' ityādi....nirākṛtiti tātparyam.*''[3] That, Ānandavandhana considers the *aprākaraṇika* artha also as *abhidheya* and that *alaṁkāra* alone is suggested may be gathered also from the expressions like the following ones :

(i) ''*śabdaśakti-mūlānuraṇanarūpavyaṅgye tu dhvanau....paurvāparyam.*''[4]

(ii) ''*pūrvavadabhidheya-tatsāmarthyākṣiptālaṁkāramātrapratītyoḥ*'', etc.[5]

---

1. *Dhvanyāloka-locana*, p. 260.
2. Ibid., p. 263.
3. Ibid., p. 261
4. Dhvanyāloka, p. 251.
5. Ibid. pp. 251-251.

प्रामाण्यवाद की समस्या

—डॉ. शङ्कर दयाल द्विवेदी
संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

ज्ञानमीमांसा पर विमर्श करने वाले भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय प्रमाण-विषयक अवधारणा के साथ उसके प्रामाण्य के स्वतस्त्व अथवा परतस्त्व पर अवश्य विचार करते हैं। उपयुक्त कारणसामग्रीसन्निधान होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार का होता है। प्रकृष्टज्ञान ही प्रमा है और उसकी कारणसामग्री प्रमाण कही जाती है। प्रमाणप्रमात्मक इस ज्ञान की ज्ञानरूपता के अतिरिक्त इसका एक अन्य विशिष्ट असाधारण धर्म होता है। यही धर्म प्रामाण्य या अप्रामाण्य होता है। जिस शीर्षक के अन्तर्गत प्रामाण्य या अप्रामाण्य के स्वरूप, इसकी ग्राहकसामग्री तथा ज्ञानग्राहकसामग्री के सापेक्ष इसका स्वतस्त्व या परतस्त्व पर विचार किया गया है, उसे प्रामाण्यवाद कहा जाता है।

प्रामाण्य का स्वरूप क्या है?

प्रमा और प्रामाण्य से सम्बद्ध प्रामाण्य तथा अप्रमा और अप्रामाण्य से सम्बद्ध अप्रामाण्य का स्वरूप क्या है? घट का चक्षुरिन्द्रियसन्निकर्ष होने पर हमें ज्ञान होता है—'यह घट है'। हमारा यह घटज्ञान प्रमा भी हो सकता है, और अप्रमा भी। ज्ञाता को ऐसी स्थिति में यह इच्छा होना स्वाभाविक है कि वह अपने ज्ञान के सम्बन्ध में यह जानकारी प्राप्त करे कि उसका घटज्ञान प्रमा है या नहीं। दूसरे शब्दों में प्रमा के याथार्थ्य और प्रमाण के सत्यत्व का परिनिश्चय करने की इच्छा होती है। ज्ञान का यही याथार्थ्य और तद्द्वारा प्रामाण्य का सत्यत्वनिश्चय ही प्रामाण्य है। याथार्थ्य का विरोधीपक्ष अप्रामाण्य का होता है। यदि ज्ञान यथार्थ नहीं है, तब वह अप्रमा होगा तथा उसका करण अप्रमाण कहा जायेगा। इस अप्रमा के अप्रमात्व तथा अप्रमाण के असत्यत्व अप्रामाण्य कहा जाता है। सामने किसी विषय को देखकर जलाशय ज्ञान होने पर यह जलाशय ज्ञान वस्तुत: सरोवर विषयक है या नहीं—यही निश्चय किया जाना प्रामाण्य कहा जाता है। प्रमा या प्रमाण की यथार्थता (प्रमात्व या प्रमाणत्व) का ज्ञान प्रामाण्य प्रक्रिया द्वारा किया जाता है।

प्रामाण्य का अर्थ

प्र उपसर्गसहित मा धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर प्रमाण शब्द बनता है। सामान्यत: प्रमाण के सन्दर्भ में ल्युट् प्रत्ययकरण अर्थ में स्वीकार किया जाता है। ऐसी स्थिति में 'प्रमीयते अनेन'

व्युत्पत्ति द्वारा प्रमाण शब्द का तात्पर्य होता है- 'प्रमा का सातिशय कारण' भिन्न-भिन्न दर्शनों को अभिमत प्रमाण के स्वरूप के वषिय में एकरूपता नहीं मिलती, फिर भी प्रमा के सहकारी कारण को प्रमाण कहते हैं-इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। प्रमा के साधनपरक अर्थ के अतिरिक्त प्रमाण का एक अर्थ और सम्भव है जिसका प्रयोग दर्शनग्रन्थों में बहुतायत से देखने को नहीं मिलता। ल्युट् प्रत्यय को यदि भाव अर्थ स्वीकार किया जाय[1] तो 'प्रमीयते इति प्रमाणम्' व्युत्पत्ति द्वारा प्रमाण शब्द का अर्थ प्रकृष्टज्ञान या यथार्थ ज्ञान होता है। ऐसी स्थिति में प्रमाण शब्द इस प्रसंग में बहुप्रचलित प्रमाशब्द का समानार्थक है। प्रमाण शब्द से ष्यञ् प्रत्यय लगकर प्रामाण्य शब्द की निष्पत्ति होती है। ण्यञ् प्रत्यय भी भाव तथा कर्म दो अर्थों में होता है।[2] अतः भाव अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न होने वाले प्रामाण्य शब्द का अर्थ होगा-'प्रमाण होना'। जैसे 'अनुमान का प्रामाण्य' जिसका तात्पर्य होगा-'अनुमान का प्रमाण होना'। इसके अन्तर्गत हम यह विवेचना करते हैं कि अनुमान भी प्रमाण होता है या नहीं या दूसरे शब्दों में अनुमान भी प्रमा उत्पन्न कर सकता है या नहीं। परन्तु प्रमाण शब्द से जब या ष्यञ् प्रत्यय कर्म अर्थ लगता है, तब इससे निष्पन्न होने वाले प्रामाण्य शब्द का अर्थ होता है-'प्रामाणिकता' या 'यथार्थता'। प्रमा या प्रमाण का याथार्थ्य ही प्रामाण्य है। अभी हम देख चुके हैं प्रमाण शब्द के 'प्रकृष्ट ज्ञान' तथा 'प्रकृष्टज्ञान का साधन' दोनों ही अर्थ होते हैं 'अतः प्रामाण्य' में प्रमा और प्रमाण दोनों ही के याथार्थ्य का ग्रहण हो जाता है। प्रमा की ही तरह प्रामाण्य भी ज्ञानरूप ही है। प्रमा के विषय की तरह प्रामाण्यज्ञान का भी विषय होता है। पूर्ववर्ती प्रमा इस प्रामाण्यज्ञान का विषय होती है।

प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमा से है या प्रमाण से-

न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसाग्रन्थों में, जहाँ पर प्रामाण्यवाद पर विस्तार से विचार हुआ है, वहीं पर स्पष्टतः प्रामाण्य शब्द को प्रमा तथा प्रमाण दोनों ही से सम्बद्ध स्वीकार किया गया है।

न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट[3], तर्कभाषाकार केशवमिश्र[4], कारिकावली तथा मुक्तावली के

---

1. ल्युट च। अष्टा० 3।3।115, करणाधिकरणयोश्च - वही 3।3।117
करणे अधिकरणे भावे च ल्युट् विहितः इति बालमनोरमा।

2. गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च। अष्टा० 5।1।124
अपि च—गुणोपसर्जनद्रव्यवाचिभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यो भावे कर्मणि च अर्थे ष्यञित्यर्थः। बालमनोरमा।

3. किं विज्ञानानां प्रामाण्यमप्रामाण्यं चेति द्वयमपि स्वतः उतपरतः। — न्या०म० भाग 1, पृ० 146
अपि च—यदि हि प्रामाण्यमितरद्वा स्वतः एव ज्ञानस्य गम्यते तर्हि शुक्तौ रजतज्ञानं प्रमाणतया वा प्रतिपन्नमन्यया वा। — वही, पृ० 147

4. जलादिज्ञाने जाते तस्य प्रामाण्यमवधार्य कश्चिज्जलादौ प्रवर्तते। — तर्कभाषा, पृ० 53

लेखक विश्वनाथ[1] तथा शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र[2] ने प्रामाण्य को स्पष्टतः प्रमा से सम्बद्ध स्वीकार किया है। दूसरी ओर 'न्यायमञ्जरी' में ही प्रामाण्य को प्रमाण से सम्बद्ध स्वीकार किया गया है।[3] वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थ न्यायकन्दली में प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमाण से स्थापित किया गया है।[4] अतः यह संशय होना स्वारसिक है कि प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमा से होगा या प्रमाण से या दोनों से? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वस्तुतः प्रामाण्य प्रमा तथा प्रामाण्य दोनों ही से सम्बद्ध होता है। जहाँ पर प्रमा की यथार्थता जाननी अभीष्ट होती है, वहाँ प्रमा ही प्रामाण्य का विषय होती है और तब प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमा से होता है। यहाँ पर प्रामाण्य की सिद्धि करने वाले प्रमाण शब्द का अर्थ प्रमा होगा। दूसरी ओर जब प्रामाण्य द्वारा प्रमाण की प्रामाणिकता का ज्ञान किया जाता है तो प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमाण से होता है क्योंकि तब प्रामाण्य की सिद्धि करने वाले प्रमाण शब्द का अर्थ प्रमा का साधन होगा और इस प्रामाण्यभूत ज्ञान का विषय भी प्रमाण ही होता है।

न्याय वैशेषिक के पुराने आचार्य प्रमा और प्रमाण की यथार्थता के लिये प्रामाण्य शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु नव्य-नैयायिक प्रामाण्य के स्थान पर प्रमात्व शब्द का प्रयोग करते हैं। कुमारिल और उनके टीकाकार इसके लिये प्रामाण्य शब्द का ही प्रयोग करते हैं।[5] कहीं-कहीं इसके लिये प्रयाणत्व शब्द का भी प्रयोग हुआ है। प्रमा की यथार्थता के अर्थ में प्रमात्व शब्द की योजना तो ठीक है, प्रामाण्य शब्द की योजना में सन्देह व्यक्त किया जा सकता है। प्रमाण शब्द से सम्बन्ध रखने वाला प्रामाण्य शब्द क्या प्रमा के याथार्थ्य से सम्बद्ध हो सकता है? अवश्य, क्योंकि प्रमाण

---

1. प्रमात्वं न स्वतोग्राह्यं संशयानुपपत्तितः। कारिकावली-136
   अपि च—यदि ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यम् - इत्यादि। — न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० 485
2. तदर्थमिदं सर्वज्ञानान्यधिकृत्य चिन्त्यते। शास्त्रदीपिका, पृ० 20
   अपि च—चोदनाप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमेव सर्वविज्ञानप्रामाण्यचिन्ता। — युक्तिस्नेहप्रपूरणीसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ० 20
3. (क) शब्दव्यापारचिन्तावसरे सकलप्रमाण प्रामाण्यविचारस्य कः प्रसङ्गः? — न्यायमञ्जरी, भाग 1, पृ० 146
   (ख) तदेवं सर्वप्रमाणानां स्वतः प्रामाण्येसिद्धे शब्दस्यापि तथैव प्रामाण्यं भवति। — वही, पृ० 154
   (ग) किं स्वतः एव प्रमाणस्यप्रामाण्यं भवति, उत स्वयमेव तत्प्रमाणमात्मनः गृह्णाति। —वही, पृ० 155
   (घ) प्रत्यक्षादिषु दृष्टार्थेषु प्रमाणेषु प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेणैव व्यवहारसिद्धेः, तत्र किं स्वतः प्रामाण्ययुत परत इति विचारेण न नः प्रयोजनम् इत्यादि। — वही, पृ० 155
4. दृष्टं च लोके वचसः प्रामाण्यं वक्तृगुणावगतिपूर्वकम्—
   तेन वेदेऽपि तथैव प्रामाण्यान्निर्विचिकित्समनुष्ठानं स्यात्। —न्यायकन्दली, पृ० 523
5. In the Nayaya system valid knowledge is called prama and validity is called pramatva. Later Mimansa writers adopt these terms. But Kumaril and his commentrors are not known to have used them. They have used the terms pramana and pramanya, - - - - the term pramana sometimes stands for a means or right knowledge whose result is termed pramiti or miti and pramanya then means the capacity of a means to generate & correct knowledge. --Epistemology of Kumaril School of Purva-Mimamsa, page 73.

शब्द का अर्थ प्रमा और तत्साधन दोनों होता है। प्र पूर्वक मा धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर प्रमाण शब्द का अर्थ यथार्थज्ञान या प्रमा होगा। इस प्रमा अर्थ वाले प्रमाण शब्द से निष्पन्न प्रामाण्य का अर्थ होगा 'प्रमा का याथार्थ्य' तथा जब यह प्रमा के साधनभूत प्रमाण से निष्पन्न होता है, तब इसका अर्थ होता है-प्रमा के साधन की योग्यता-जिसके द्वारा वह प्रमा को उत्पन्न करने में क्षम होता है।

प्रामाण्य की आवश्यकता क्या है?

प्राणाण्यवाद ज्ञानमीमांसा का एक आवश्यक उपसिद्धान्त है। ज्ञान की सत्यता और उसकी निश्चेयता को प्रामाण्य कहा जाता है। प्रमाण और प्रमा के सत्यत्व का मूल्याङ्कन प्रामाण्य द्वारा होता है। किसी ज्ञान से संशय, विपर्यय जैसी अनिश्चयात्मक शंकाओं का निरास प्रामाण्य द्वारा होता है। ज्ञान के प्रामाण्याप्रामाण्य के निर्धारण के अभाव में ज्ञान में निश्चेयता नहीं होगी और अनिश्चित ज्ञान सम्पूर्ण मानवीय व्यवहार को असम्भव बना देगा। अत: विशेषत: प्रमाणों का अध्ययन करने वाले न्याय-वैशेषिक शास्त्र और ज्ञानमीमांसा पर विचार करने वाले सांख्य, बौद्ध और मीमांसा शास्त्रों के लिये प्रामाण्यवाद एक अहं प्रश्न है।

प्रामाण्यवाद की अवधारणा का विकास वेदों के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिये हुआ है।[1] प्रत्यक्षादि प्रमाण दृष्टफलक है, अत: प्रामाण्य के अभाव में भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से व्यवहार की सिद्धि हो सकती है। परन्तु वेद अदृष्टार्थक है। जिस वेदप्रमाण का अर्थ अदृष्ट होता है, उस पर प्रेक्षावान् का विश्वास प्रामाण्य निर्धारण के बिना कैसे होगा? अतएव वेदविहित विधानों (विधिवाक्यों) में प्रवृत्ति के लिये वेदप्रमाण (आगम या शब्द प्रमाण) का प्रामाण्य निर्धारण आवश्यक है।[2] वेदसंरक्षण के लिये प्रवृत्त न्यायादि शास्त्रों में प्रामाण्य पर स्वतन्त्र चिन्तन इसीलिये आवश्यक हो जाता है।[3]

प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति

हम यह जानते हैं कि प्रामाण्य भी एक कार्य है, अत: इसकी किसी साधनविशेष से उत्पत्ति होती है और ज्ञान विषयत्व के कारण इसका ग्रहण भी होता है। प्रामाण्य चूंकि ज्ञान या प्रमाण-

---

1. तदर्थमिदं सर्वज्ञानान्यधिकृत्य चिन्त्यते। शास्त्रदीपिका, पृ० 20
2. अदृष्टे तु विषये वैदिकेष्वगणितद्रविणवितरणादिक्लेशसाध्येषु कर्मसु तत्प्रामाण्यावधारणमन्तरेण प्रेक्षावतां प्रवर्तनमनुचितमिति तस्यप्रामाण्यनिश्चयोऽवश्यकर्तव्य:। — न्यायमञ्जरी, भाग 1, पृ० 152
3. तस्मादशेषदुष्टतार्किकोपर्दद्वारकदृढतरवेदप्रामाण्यप्रत्ययाधायिन्यायोपदेशक्षममक्षपादोपदिष्टमिदं न्यायविस्तराख्यं शास्त्रं प्रतिष्ठाननिबन्धनमिति परंविद्यास्थानम्। — वही, पृ० 3

विषयक होता है, अतः जिस कारण सामग्री से ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसी कारण सामग्री से अथवा उससे भिन्न कारण सामग्री से भिन्न होती है। यह प्रामाण्य ज्ञानग्राहक सामग्री द्वारा या ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री द्वारा गृहीत होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान की उत्पत्ति और ग्रहण की तरह प्रामाण्य की भी उत्पत्ति और ग्रहण होता है।

प्रामाण्य के प्रकार में वैचारिक भिन्नता

ज्ञप्ति और उत्पत्ति दोनों स्थितियों में प्रामाण्य किस रूप का होता है-इस विषय में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में मदभेद है। कुछ लोग उत्पत्ति और ज्ञप्ति में प्रामाण्य का स्वतस्त्व स्वीकार करते हैं तथा कुछ लोग परतस्त्व स्वीकार करते हैं। स्वतस्त्व एवं परतस्त्व का तात्पर्य यह है कि जिस कारण सामग्री से ज्ञान उत्पन्न हो, या जिस कारण सामग्री से ज्ञान गृहीत हो, उसी कारण सामग्री से जब ज्ञान का प्रामाण्य भी उत्पन्न या गृहीत हो, तब तो प्रामाण्य का स्वतस्त्व होता है और जब ज्ञानोत्पाद या ज्ञानग्राहक कारण सामग्री से भिन्न कारण सामग्री द्वारा प्रामाण्य उत्पन्न या गृहीत हो, तो इसे प्रामाण्य का परतस्त्व करेंगे।

विभिन्न ज्ञानमीमांसकों के मध्य प्रामाण्य के स्वरूप के विषय में कोई उल्लेखनीय मतभेद नहीं है। मतभेद केवल प्रामाण्य की स्वतः उत्पत्ति या ज्ञप्ति और परतः उत्पत्ति और ज्ञप्ति सम्बन्धी मान्यताओं में है। इनकी इस भिन्नता को इस सारणी से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है—

प्रामाण्य	स्थिति	मान्यता का स्वरूप
	उत्पत्ति	ज्ञानोत्पादकसामग्रीमात्रजन्यत्वम्
स्वतः	ज्ञप्ति	ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्वम्
	उत्पत्ति	ज्ञानोत्पादकसामग्रीभिन्नसामग्रीजन्यत्वम्
परतः	ज्ञप्ति	ज्ञानग्राहकसामग्रीभिन्नसामग्रीग्राह्यत्वम्

ज्ञान का अप्रामाण्य

यथार्थज्ञान के प्रामाण्य की तरह अयथार्थज्ञान संशय, विपर्यय, स्मृति आदि अप्रमाओं का असाधारण धर्म अप्रामाण्य होता है। प्रमाणाभास की अयथार्थता और अप्रमा के अप्रमात्व को अप्रामाण्य कहते हैं। प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति के भेद की तरह अप्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति के विषय में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में मतभेद है। मीमांसक और नैयायिक अप्रामाण्य परतः स्वीकार करते हैं, जबकि सांख्य और बौद्ध लोग अप्रामाण्य को स्वतः मानते हैं।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य विषयक विभिन्न मत

न्यायमञ्जरीकार-ज्यन्त भट्ट ने प्रामाण्य और अप्रामाप्य के स्वतस्त्व तथा परतस्त्व के विषय में चार मत उपन्यस्त किया है।[1] सर्वदर्शसंग्रह में भी इन्हीं चार मतों का उल्लेख भिन्नता है।[2] सांख्य लोग प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को स्वत: तथा नैयायिक दोनों को परत: स्वीकार करते हैं। मीमांसकों के मत से प्रामाण्य का स्वतस्त्व होता है जबकि अप्रामाण्य का परतस्त्व होता है। इसके विपरीत बौद्ध मान्यता में प्रामाण्य परत: तथा अप्रामाण्य स्वत: स्वीकार किया गया है। प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य शान्तरक्षित तथा उनके अनुयायियों की इस विषय में भिन्न मान्यता है। ये प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को अभ्यास दशा में स्वत: और अनभ्यासदशा में परत: मानते हैं। जब ज्ञान की उत्पत्ति के बाद उसके प्रामाण्य का निर्धारण और उसके बाद प्रवृत्ति हो तो उसे अभ्यास दशा कहते हैं। तथा जब ज्ञानोत्पत्ति के बाद प्रवृत्ति हो, तदनन्तर प्रामाण्य निश्चय हो तो उसे अनभ्यास दशा कहते है। जैन मत में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही उत्पत्ति में परत: और ज्ञप्ति में स्वत: होते हैं। प्रामाण्य और अप्रामाण्य विषयक इन मतों को इस प्रकार तालिकाबद्ध किया जा सकता है—

क्रमसंख्या	मत	प्रामाण्य		अप्रामाण्य	
1	सांख्य	स्वत:		स्वत:	
2	बौद्ध	परत:		स्वत:	
3	मीमांसा	स्वत:		परत:	
4	न्यावैशेषिक	परत:		परत:	
5	शान्तरक्षित	अभ्यासदशा	स्वत:	अभ्यासदशा	स्वत:
		अनभ्यासदशा	परत:	अनभ्यासदशा	परत:
6	जैन	उत्पत्ति	परत:	उत्पत्ति	परत:
		ज्ञप्ति	स्वत:	ज्ञप्ति	स्वत:

1. किं विज्ञानानां प्रामाण्यमप्रामाण्यं चेति द्वयमपि स्वत: उत उभयमपि परत: आहो स्विदप्रामाण्यं स्वत: प्रामाण्यं तु परत: उत स्वित् प्रामाण्यं स्वत: अप्रामाण्यं तु परत: इति। —न्या०म० भाग 1, पृ० 146-47
2. प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वत: सांख्या: समाश्रिता:।
नैयायिकास्ते परत: सौगताश्चरमं स्वत:॥
प्रथमं परत: प्राहु: प्रामाण्यं वेदवादिन:।
प्रमाणत्वं स्वत: प्राहु: परतश्चाप्रमाणताम्॥ — सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 129

प्रामाण्याप्रमाण्य विषयक इस भिन्नता का आधार उक्त मतों में स्वीकृत प्रमाण के स्वरूप की भिन्नता है। सांख्यों के मत में और मिथ्या दोनों प्रकार के ज्ञान अन्त:प्रज्ञा या चित्तवृत्ति द्वारा जाने जाते हैं। इसलिये प्रामाण्य और अप्रामाण्य भी ज्ञानरूप होने से चित्तवृत्ति द्वारा ही गृहीत होते हैं। इसलिये दोनों ही स्वत: हैं। नैयायिक मत में प्रमा का प्रामाण्य और अप्रमा का अप्रामाण्य ज्ञान की कारणसामग्री से भिन्न स्वतन्त्र हेतुओं द्वारा सिद्ध किये जाते हैं। बौद्धों के मत में प्रत्येक ज्ञान बाह्यत: मिथ्या दिखाई देता है, अत: ज्ञान का अप्रामाण्य तो स्वत: है, किन्तु जब विशेष प्रमाणों से ज्ञान को सत्य सिद्ध कर दिया जाता है, तभी ज्ञान का सत्यत्व परिनिश्चित होता है, अत: ज्ञान का प्रामाण्य परत: स्वीकृत किया गया है। मीमांसक यह मानते हैं कि ज्ञान सदा ज्ञायमान ही उत्पन्न होता है, क्योंकि यह स्वप्रकाश होता है और इसकी स्वप्रकाशता तभी सम्भव है जबकि ज्ञान की उत्पादक और ग्राहक सामग्री को ही ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पादक और ग्राहक सामग्री मान लिया जाय। परन्तु जब किसी भिन्न प्रमाण से ज्ञान का मिथ्यात्व सिद्ध कर दिया जाता है केवल तभी ज्ञान मिथ्या होता है। अत: मीमांसक मत में अप्रामाण्य परत: तथा प्रामाण्य स्वत: स्वीकार किया गया है।

स्वत: प्रामाण्य का स्वरूप

मीमांसक सभी ज्ञानों और सभी प्रमाणों का स्वत: प्रामाण्यस्वीकार करते हैं। इनके मत में प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों ही स्वत: होती हैं और प्रामाण्य से अप्रामाण्य के पारस्परिक विभेद का कारण भी यही है कि प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है और अप्रामाण्य परत: ग्राह्य। यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परत: मान लें तो मीमांसक मत से दोनों के स्वरूप में पारस्परिक वैलक्षण्य सम्भव नहीं होगा। प्रामाण्य के स्वतोग्रहण का तात्पर्य यह है कि प्रमाण के आश्रयभूत यथार्थज्ञान का ग्रहण जिस कारणसामग्री से होता है, उसी कारणसामग्री से प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। प्रामाण्य ग्रहण के लिये ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न किसी इतर सामग्री की अपेक्षा नहीं है।

प्रामाण्य के ज्ञानग्राहक सामग्रीमात्र ग्राह्यत्व के विषय में पूर्वमीमांसा सम्प्रदाय में तीन मान्यतायें प्रसिद्ध हैं। इनमें से एक प्रभाकर की मान्यता है, दूसरी कुमारिल की और तीसरी मुरारिमिश्र की।

प्रभाकर का मत

प्रभाकर के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश होने से हमेशा ज्ञात रहता है। दूसरे शब्दों में ज्ञान ज्ञायमान ही उत्पन्न होता है। यदि ज्ञान की उत्पत्ति के बाद उसकी ज्ञप्ति स्वीकार करें तो ज्ञान की स्वप्रकाशता बाधित हो जायेगी। ज्ञान जिस प्रकार अपने विषय को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार स्वयं अफने को प्रकाशित करता है तथा इसी प्रकार वह अपने प्रामाण्य को भी प्रकाशित करता है।

प्रभाकर के मत में ज्ञान सदा त्रिपुटीविषयक होता है। कोई भी उत्पन्न हुआ ज्ञान तीन अर्थों को अपना विषय बनाता है-पहला वह अर्थ जिसके विषय में ज्ञान उत्पन्न हुआ है, दूसरा स्वयं ज्ञान,

और तीसरा ज्ञान का प्रामाण्य। इसलिये ज्ञानोत्पादकसामग्री ही ज्ञानग्राहकसामग्री होती है और वही ज्ञानप्रामाण्य-ग्राहकसामग्री होती है। इसलिये ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्य होने से स्वतः गृहीत होता है। ज्ञान की उत्पत्ति, ज्ञप्ति और प्रामाण्यग्रहण यह सारी प्रक्रिया युगपद् होती है। प्रभाकर के अनुसार घट ज्ञान का स्वरूप 'घटोऽयम्' न होकर 'घटमहं प्रमिणोमि' होता है, अतः ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञप्ति तथा प्रामाण्य की उत्पत्ति ज्ञप्ति में अभेद होता है।

कुमारिल का मत

कुमारिल ज्ञान को अतीन्द्रिय मानते हैं। ज्ञान की उत्पत्ति जिस कारणसामग्री से होती है, उसी कारणसामग्री से ज्ञान का ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञान अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। प्रमाता को ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता। कुमारिल के मत में उत्पन्न होने वाले ज्ञान में ज्ञातता नाम का एक नवीन धर्म उत्पन्न होता है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाता को होता है। इसलिये ज्ञानोत्पादकसामग्री से ज्ञानग्राहक सामग्री भिन्न है किन्तु, परन्तु ज्ञानग्राहकसामग्री और प्रामाण्यग्राहकसामग्री में भेद नहीं है। ज्ञातता का प्रत्यक्ष करने वाला प्रमाता ज्ञातता के कारण भूत ज्ञान का अनुमान करता है, अतएव ज्ञानग्राहकसामग्री अनुमान है। इसी प्रकार प्रामाण्य की ग्राहकसामग्री भी अनुमान ही है अर्थात् प्रामाण्य का निश्चय अनुमान द्वारा होता है। अतएव कुमारिल के मत में भी ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्र-ग्राह्यत्व सुरक्षित रहने से प्रामाण्य का स्वतस्त्व ही स्वीकार किया जाता है।

मुरारि मिश्र का मत

अन्य मीमांसकों की अपेक्षा मुरारिमिश्र की ज्ञानग्रहण सम्बन्धी मान्यता नैयायिक मान्यता के अधिक समीप है। इनके मत में ज्ञानग्राहकसामग्री ज्ञानोत्पादकसामग्री से भिन्न होती है और यह अनुमान प्रमाण न होकर अनुव्यवसायनामक मानस प्रत्यक्ष प्रमाण होती है। नैयायिक मान्यता से इनका केवल यह भेद है कि मुरारिमिश्र जिस अनुव्यवसाय से ज्ञान का ग्रहण मानते हैं उसी अनुव्यवसाय को प्रामाण्य का भी ग्राहक मानते हैं। अतः ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्व होने से इनके मत में भी प्रामाण्य स्वतोगृहीत होता है।

अन्य मत

मीमांसकों के अतिरिक्त सांख्य लोग भी प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व मानते हैं। इसका कारण यह है कि सांख्यों के मत में सभी ज्ञान बुद्धिवृत्ति से भिन्न कुछ नहीं हैं और सभी ज्ञानों का ग्राहक भी बुद्धिवृत्ति ही है। चूँकि प्रामाण्य भी एक प्रकार का ज्ञान है अतः उसकी भी ग्राहक बुद्धिवृत्ति ही होगी। अतः जो बुद्धिवृत्ति ज्ञान का ग्राहक है, वही प्रामाण्य की भी ग्राहक है। अतः ज्ञानग्राहक सामग्रीमात्रग्राह्यत्व के कारण सांख्य मत में प्रामाण्य का स्वतस्त्व सिद्ध होता है।

प्रामाण्य का स्वतस्त्व जैन लोग ज्ञप्ति में तथा बौद्ध आचार्य शान्तरक्षित अभ्यास दशा में स्वीकार करते हैं।

परतः प्रामाण्य का स्वरूप

परतः प्रामाण्य मुख्यतः नैयायिक और बौद्ध स्वीकार करते हैं। इनके मत में ज्ञान के प्रामाण्य की ग्राहक सामग्री ज्ञानग्राहकसामग्री से भिन्न होती है।

नैयायिकों का मत है कि किसी विषय में उत्पन्न हुये ज्ञान का ग्रहण ज्ञानोत्पादकसामग्री से भिन्न सामग्री द्वारा होता है। जैसे 'घटोऽयम्' ज्ञान का उत्पादक प्रमाण इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप प्रत्यक्ष प्रमाण है। जबकि 'घटोऽयम्' ज्ञान का ग्राहक अनुव्यवसाय नामक मानस प्रत्यक्ष है। यह अनुव्यवसाय चतुर्विध प्रमितियों में से प्रत्येक का ग्राहक होता है। या दूसरे शब्दों में यह कहें कि अनुव्यवसाय ही सभी ज्ञानों का ग्राहक होता है। अनुव्यवसाय का स्वरूप है-'घटमहं जानामि' या 'ज्ञातो मया घटः'। यह अनुव्यवसाय प्रामाण्य का ग्राहक नहीं है। घटविषय ज्ञान और ज्ञानग्रहण के पश्चात् प्रमाता में अर्थोपलब्ध्यनुकूल प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति के पश्चात् प्रमाता या तो घट उपलब्ध करेगा या नहीं। यदि घट उपलब्ध हुआ तो प्रमाता की प्रवृत्ति सफल कही जायेगी और यदि घट उपलब्ध न हुआ तो प्रवृत्ति विफल कही जायेगी। प्रवृत्ति विफल होने प्रमाता अनुमान करता है-'मेरे घट विषयक ज्ञान का प्रामाण्य है-सफल प्रवृत्ति का जनक होने से'। 'सफल प्रवृत्तिजनकत्व हेतुक अनुमान' द्वारा न्यायमत में प्रामाण्य का ग्रहण स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार न्याय मत में ज्ञान का ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण होता है और प्रामाण्य का ग्राहक अनुमान प्रमाण होता है। ज्ञानग्राहक सामग्री प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न प्रामाण्य ग्राहक सामग्री अनुमान प्रमाण है। अतः प्रामाण्य का ग्रहण परतः माना जाता है। इसी प्रकार 'विफल प्रवृत्ति जनकत्व हेतुक अनुमान' से अप्रामाण्य का ग्रहण होता है, अतः अप्रामाण्य भी ज्ञानग्राहकसामग्री भिन्न सामग्रीग्राह्य होने से परतोग्राह्य स्वीकार किया जाता है।

परतः प्रामाण्यवादी बौद्धों की मान्यता है कि ज्ञान बाह्यतः मिथ्या उत्पन्न होते हैं, अतः अप्रामाण्य स्वतोग्राह्य होता है। परन्तु जब कोई ज्ञान (1) कारण गुण के ज्ञान द्वारा या (2) संवाद द्वारा या (3) अर्थक्रियाज्ञान द्वारा-सत्यसिद्ध कर दिया जाता है, केवल तभी वह ज्ञान यथार्थज्ञान के रूप में स्वीकृत किया जाता है। इसलिये बौद्धमत में प्रामाण्य-कारण-गुणज्ञान या संवादज्ञान या अर्थक्रियाज्ञान से गृहीत होता है। अतः ज्ञानग्राहकसामग्री से भिन्न सामग्री द्वारा ग्राह्य होने से बौद्धमत में प्रामाण्य का परतोग्रहण स्वीकार किया जाता है।

चन्द्रस्योत्पत्ति विचारः

-प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

यद्यपि चन्द्रोत्पत्तिविषये भारतीयानां बह्व्यः कल्पना वर्तन्ते, तत्रापि द्वे एव प्रमुखरूपेण तिष्ठतः। प्रथमा तु समुद्रमन्थनाच्चन्द्रोत्पत्तिः।[1] अत्रेदमेव कथनं समीचीनं भविष्यति यत् पौराणिकानां वर्णनशैली पुराणकालस्य कृते भवतु नाम सुगमा, परन्त्विदानीं साऽतीव दुरवगम्या। अत्र समुद्रमन्थनाच्चन्द्रोत्पत्तिर्निर्दिष्टा। समुद्रमन्थनम्? तस्माद् रत्नरूपेण चन्द्रोत्पत्तिः किं बुद्धगम्या वर्तते? कथन्न अस्य गूढार्थः प्रदर्श्यते। पौराणिकी कथा चैवम्-

पुरा सृष्ट्यादौ पृथ्वी एकस्मिन्नेव स्थाने स्थिरा आसीद् इति। तदानीं पृथिव्या एकस्मिन् पार्श्वे सदैवान्धकारस्तथा चापरपार्श्वे सदैव प्रचण्डताप आसीत्। स्थितावस्यामस्या उपरि सृष्टिरसम्भवा इति विचिन्त्य भगवता विष्णुना कमठस्वरूपेण पृथ्वीं स्वपृष्ठोपरि संप्रधार्य मन्दरं मन्थानं कृत्वा देवासुराणां साहाय्येन समुद्रमन्थनं कारितम्। अत्र विष्णुपदेन जलमित्यवधेयम्। मन्दरपर्वतेन (प्रकारान्तरेण मेरूः) उत्तरीयध्रुवप्रदेशो ज्ञातव्यः। प्रकृतेः प्रतिकूलानुकूलशक्तिद्वयी देवासुरावित्यवबोध्यम्। एवं जलोपरि द्वाभ्यां प्राकृतशक्तिभ्यां परस्पराकर्षणं जातं येन पृथिव्या गतिरुत्पन्ना। यया गत्या समुद्राच्चतुर्दशरत्नानि निःसृतानि। यथा-लक्ष्मीः (खनिजपदार्थाः पशवः), कौस्तुभः (रत्नं मणिः), पारिजातः (वृक्षः, लता), सुरा (मादकद्रव्याणि), चन्द्रमाः, कामधेनुः (गौः) हस्ती, अप्सरसः, अश्वः, अमृतः (प्राणाः, ओषध्यः) हरिधनुः, शंखः, विषम् (विषप्रधानाः जन्तवः विषप्रधानाः पदार्थाश्च)।

अयमाशयो यत् पृथिव्या गतिशीलत्वे सति तस्यां सृष्टिर्जाता तथा च तस्या गत्याः प्रभावेण चन्द्रोऽपि पृथिव्याः पृथगभवत्।

अपरा च सर्वेषां ग्रहाणां रचना युगपदेव एकस्मादेव स्थानाज्जाता। अत्रापि मतैक्यं नास्तिः कुत्रचित्ते सर्वेषामुत्पत्तिः सूर्याज्जाता,[2] कुत्रचित्ते ब्रह्मणा उत्पादिताः[3] केवलं चन्द्रस्य विषये

---

1. भाग. पु. 8/7/1-2/29
2. ब्रह्मा. पु. 2/24/46
3. ऋ. 10/190/1-3

सूक्ष्मरूपेण कृतं वर्तते। तत्र सूर्यस्य सप्तरश्मिषु केवलमेकैव सुषुम्णाख्यो रश्मिश्चन्द्रं दीपयति[1] इति निर्दिष्टम्। अथवा अस्य विश्लेषणं यद्येवं क्रियते यत् सूर्यस्य प्रमुखाः सप्तरश्मयः सन्ति तेष्वेकाः सुषुम्णाख्यो रश्मिरेव चन्द्रं दीपयति तदा पौराणिकानां मते पतितप्रकाशस्य सप्तमांश (14.3 प्रतिशत) एव प्रकाशः परावर्तितो भवति। भवतु नाम सूक्ष्मान्तरमिदं परमेतेन न काचिद् हानिर्दृश्यते।

अत्र महदाश्चर्यजनको विषय उपस्थाप्यते यन्महर्षयो यन्त्रसाहाय्यं विनैव चन्द्रतले परिवर्तमानानां वर्णानां दर्शनं कृतवन्तः। तथा च भूस्थानां प्राणिनां प्रति तेषां प्रभावं विज्ञाय फलितशास्त्रे उल्लेखं कृतवन्तः। महर्षिभिर्निर्दिष्टं यच्चन्द्रः समये समये विभिन्नवर्णात्मको भवति यस्य प्रभावो भूस्थितानां प्राणिनामुपर्यपि पतति। यथा-

अलक्ष्यः प्रभया हीनः पौर्णमासीञ्च कार्तिकीम्।
चन्द्रोऽभूदग्निवर्णश्च पद्मवर्णे नभस्तले॥[2]

एवं भूतं चन्द्रमण्डलमवलोक्य महर्षिणा भविष्यमाणानिष्टस्य पूर्वसूचना प्रदत्ता। परिणमतः अखिलभूमण्डलक्षुब्धकरं महाभारतयुद्धं जातम्। एवमेव चन्द्रस्य विभिन्नवर्णे परिवर्तिते सति जायमाननां शुभाशुभानां निर्देशः ग्रन्थान्तरेषु प्राप्यते। उदाहरणरूपेण केचन श्लोका उपस्थाप्यन्ते-

विलग्नमध्यो नीलाभो वज्रसंस्थान[3] संस्थितः।
मध्यच्छिद्रः विलीनाभो भयं कारयते महत्[4]॥

अन्यच्च-

दधिशंखसवर्णस्तु मुक्ताराशिनिभोऽमलः।
भ्राजिष्णुरतिसुस्निगधः क्षेमारोग्यकरः शशी॥[5]

अन्यदति-

हरितोऽपीतये विद्यात् पशूनां चाप्युपद्रवम्।
पीतवर्णो गजान् हन्ति पीतो व्याधिकरस्तथा॥[6]

---

1. वा.पु. 53/46
2. महा. 6/2/23
3. वज्रसंस्थानस्य व्याख्या वाराहीसंहितायामेवं मध्यतनुवज्राख्यः (4/19)
4. अद्भु. पृ. 31
5. अद्भु. पृ. 31
6. अद्भु. पृ. 32

उल्का: प्रज्वलिताश्चन्द्रे विचरन्ति यथासुखम्[1]॥

अन्यच्च-

गृह्यते राहुणा चन्द्र उल्काभिरभिहन्यते[2]॥

एतेनेदं कल्पनागम्यमेव यच्चन्द्रतलं सततोल्कापातेनावश्यमेव भ्रंशितं वर्तते। यथान्तरिक्षयानेन प्रेषितैश्चित्रैस्तथा च दूरदर्शकयन्त्रेण चावलोक्यते। प्राचीनग्रन्थेषु न केवलं चन्द्रमण्डलोपर्येवोल्कापतनं निर्दिष्टमपि तु सर्वेषां ग्रहाणां नक्षत्राणां सूर्यस्य चोपर्यपि उल्कापतनं भवति, यथोक्तं मयूरचित्रे-

ग्रहर्क्षसोमसूर्येषु पतन्त्युल्का भयावहा:[3]।

संहिताग्रन्थेषु उल्कापातजन्यप्रभावस्यापि निर्देश: कृतो वर्तते। यथा गार्गीये-

चन्द्रमण्डलगा या च पावकार्चि: प्रभाऽथवा।
उल्का विनिपतेत्तत्र युवराजवधं वदेत्[4]॥

एवमेव बहुत्रस्थलेषु उल्कापातस्य फलं निर्दिष्टं वर्तते। एतेषामवलोकनेन प्राचीनाचार्याणां महर्षीणाञ्च प्रतिभाया: ज्ञानं भवति। उक्तश्लोके 'उल्का' 'पाकार्चि:' इति द्वौ शब्दौ वर्तेतेऽत: पावकार्चि: उल्कया भिन्न: कश्चिदन्य: पदार्थो वर्तते। सम्भाव्यतेऽत 'अर्चि' शब्देन ज्वालामुखानां विस्फोटो निर्दिष्ट:। विषयेऽस्मिन् वैज्ञानिका: प्रचुरज्ञानसम्पन्ना: सन्ति। तेषां कृते चन्द्रस्याखिलं तलप्रदेशं हस्तामलकवद्वर्तते। कस्मिन् स्थले ज्वालामुखजागर्ता: सन्ति कस्मिन् स्थले च उल्कापातजन्यगर्ता: सन्ति इति सर्वं विज्ञाय मानचित्रे तैस्ते गर्तादय: संनिवेशिता:। एतदतिरिक्ता अन्येऽपि बहवो धरातलीयाकारा: सन्ति येषां समवायेनाखिलं चन्द्रतलं समाकीर्णं वर्तते परन्तु तेषां प्राचीनग्रन्थेषु कुत्रचिदप्युल्लेखो न प्राप्यते। तेषु पर्वता:, गर्ता:, दारा:, समुद्राश्च प्रमुखा: सन्ति। एतेषां परिमाणपुरस्सरं वर्णनं संकलय्य ग्रन्थेषु पत्रिका सु च प्रकाशितं वर्ते। उक्तधरातलीयाकृतिषु समुद्रप्रदेशम् (कलङ्कप्रदेशं) अधिकृत्य प्राचीनग्रन्थेषु किञ्चिद्वर्णनं मिलति परन्तु तदपर्याप्तमेव।

चन्द्रपिण्डस्य प्रकाशाप्रकाशविषयेऽपि एकरूपतैव दृश्यते। चन्द्रे प्रकाशकत्वगुणो नास्तीति उभयोर्मतम् वस्तुतश्चन्द्रो रविरश्मिभि: प्रकाशितो भवति। अत्र वैज्ञानिकानां मतमस्ति यच्चन्द्र: स्वकीयतलोपरि पतितप्रकाशस्य 10 प्रतिशतं भागं परावर्तयति। परन्तु पुराणेषु अस्य वर्णनमतीव

1. मत्स्य पु. 162/42
2. मत्स्य पु. 163/42
3. अद्भु. पृ. 335
4. अद्भु. पृ. 336

एकाऽन्याप्युक्तिर्दृश्यते यत्तस्योत्पक्तिर्वृत्राज्जाता।[1] अत्र वृत्रशब्देन मेघसदृश आकाशस्थो निहारिकाख्यः पदार्थो ग्राह्यः। देवासुररूपा प्रकृतेः शक्तिद्वयी वर्तते। ययोः शक्त्युयोः परस्परं संघर्षेण नीहारिकायाश्चन्द्रो भग्नो भूत्वा पृथग्ग्रहरूपेण स्थितोऽभवत्। अतो भारतीयानां न किच्चिन्निश्चितं मतम्।

एवमेव पाश्चात्यानामपि द्विविधा धारणा दृश्यते चन्द्रोपत्तिविषये। प्रथमा तु सूर्यस्याऽऽकर्षणवशात् पृथिव्यां विशालाप्लावाः समुद्भूताः। परिणामतः विशाले भूभागः खण्डितो भूत्वा तां परित एवोपग्रहरूपेण भ्रमणमारब्धवान् स एव चन्द्रः। द्वितीया चैवम् यत् सर्वेषां ग्रहाणामुत्पत्तिः सूर्यादेव जाता।[2] अत इदं साधिकारं वक्तुं शक्युते यच्चन्द्रोत्पत्तिरद्यावधि अनिर्णीता वर्ततेः। यद्यपि चन्द्रस्थपदार्थानामध्ययनं कृत्वा वैज्ञानिकानां मतिः ''पृथिव्या एव चन्द्रोत्पत्तिः'' इत्यस्मिन् सिद्धान्ते दृढाऽभवत्। प्रायश इदानीं सर्वेषां मतमस्ति यद् यस्मात् स्थानाच्चन्द्रः पृथिव्याः पृथगभवत् तस्मिन्नेव स्थानेऽद्य प्रशान्तमहासागरो वर्तते।[3] अस्याः कल्पनाया मूलभूतआधारोऽयमेव-यत् तत्रत्याः पदार्था भूस्थपदार्थानुकारिणः सन्ति।

चन्द्रपिण्डसम्बधिज्ञानं भारतीयज्योतिशशास्त्रे न तथाविधं पर्याप्तं यथाऽपेक्षते। तत्र तु केवलमिदमेव वर्तते यच्चन्द्रो जलमयः। यथा सिद्धान्ताशिरोमणौ वर्णितम्।[4] ब्रह्माण्डपुराणे चन्द्रपिण्डः जलतेजोमयमिति निर्दिष्टम्। अस्यायमाशयो यत्तत्र जलसत्वान्महच्छैत्यं तेजसत्वान्महदौष्ण्यञ्च्च वर्तते। परन्तु वैज्ञानिकैश्चन्द्रो मृत्पिडइत्युदघोषितम्। तेषां कथनमस्ति यन्मन्ये तत्र कदाचिज्जलमासीत्, परमद्य जलं नास्ति। इदानीं तत्र न कश्चित् प्राकृतिको विप्लवो दृश्यते। कदाचिदपि तत्र कूहा मेघादयश्च न दृष्टाः। किन्तु नवीनतमाविष्कारेणास्मिन् सिद्धान्ते संशोधनस्यावश्यकता प्रतिभाति। 1968 खिष्टाब्दे दिसम्बरमासस्य 24 तारिकायां यदा अपोलो 8 अन्तरिक्षयानं चन्द्रपिण्डात् 69 मीलदूरात्मिकायां कक्षायां भ्रमन्नासीत् तदा तस्मिन् याने स्थितैस्त्रिभिर्वैज्ञानिकैश्चन्द्रमण्डले अरुणोदये किंचित् क्षणं यावत् कुज्झटिकावृतमाकाशं दृष्ट तथा च दिवसे चन्द्रतलोपरि काचिज्ज्वालामुखोद्गाररूपा क्रिया दृष्टा। यया वैज्ञानिकलोके महत्याः क्रान्तेः सम्भावना जाता। यदा इयं घटना स्पष्टरूपेण परिज्ञाता भविष्यति तदा ''चन्द्रो मृत्पिण्डः'' इत्यस्य सिद्धान्तस्य खण्डनं भविष्यतीति निश्चप्रचम्।

यद्यपि चन्द्रतलस्य रचनायाः सम्बन्धे प्राचीनग्रन्थेषु न किञ्चिद् विवरणं प्राप्यते तथापि तस्य तलोपरि उल्कापातस्य ज्ञानं सम्यगासीदिति। यथा मत्स्यपुराणे-

---

1. श. ब्रा. 1/6/3/17
2. The Solar system our home, is made up of one star (The sun) nine major planets, thirty moons or ''Satellites'' thousands of small planets or ''asteroids'', and large number of comets and meteor swarms. On the whole it is a compact family and the Sun rues it with and iron hand. (Guide to the Moon P.18)
3. The Creation of the Universe, P.15.
4. सि. शि. पृ. 232 श्लो. 1

दूरदर्शकादिसूक्ष्मयन्त्राणामाविष्कारानन्तरं वैज्ञानिकैरपि चन्द्रे वर्णभिन्नत्वं दृष्टम्। सर्वप्रथमं अमेरिकादेशवास्तव्यः जे.एच.रिट. (J.H. Pruitt)-महोदयः 1944 ख्रिष्टाब्दे नीलवर्णात्मकं चन्द्रं ददर्श, पश्चात् क्वीन्सलैण्डदेशात् 1949 ख्रिष्टाब्दे ए. एम. फ्रैसर (A.M. Fraser)- महोदयेन नीलश्चन्द्रो दृष्टः। परन्तु सर्वापेक्षया स्पष्टरूपेणातीव नीलश्चन्द्रः 26 सितम्बर 1950 दिनांके पैट्रिक मूरे (Patric Moore) महोदयेन दृष्टः। तेनाङ्कितं[1] यत् नीलवर्णात्मकेन प्रकाशेन युक्तो दीप्तिमांश्चन्द्रः विरलकुज्झटिकायामाकाशादधोभागे दृष्टः। तस्य पूर्वदृष्टवर्णाद्भिन्नः नीलप्रकाशः विद्युद्वर्तिकायाः प्रकाशेन सह तुल्यताम भजत्।

आश्चर्यकरं दृश्यमिदमन्येऽपि जनाः विश्वस्य विभिन्नस्थानेभ्यो दृष्टवन्तः।

कदाचिच्चन्द्रमण्डले वर्णव्यत्यासं दृष्ट्वा वैज्ञानिकैर्निर्धारितं यदयं वर्णव्यत्यासः वनस्पतीनां विकासेन विनाशेन च भवति[2]। परन्त्वियं धारणा विखण्डिता जाता, यतो हि तत्र वनस्पतीनां सर्वथा अभावो वर्तते। अतोऽस्यां दिशि महर्षीणामेव विचारो युक्ति युक्तः प्रतिभाति।

---

1. "The Moon is shining down from a slightly misty sky with a lovely shimmering blueness-like an electric glimmer, utterly unlike any thing I have ever seen before." (Guide to the Moon P. 145).
2. "The Universe, P. 140.

पद्मभूषण आचार्य विश्वबन्धु एवं विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर

प्रो. शुकदेव शर्मा
वि.वै. शोध संस्थान, होशियारपुर

सरस्वती-वरदपुत्र पद्मभूषण विश्वविख्यात विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के आद्य संचालक आचार्य विश्वबन्धु जी का जन्म सरगोधा जिला (वर्त्तमान पाकिस्तान) के 'भेरा' गाँव में श्री रामलुभाया 'दिलशाद' के घर 30 सितम्बर, 1897 को हुआ। बाल्यकाल से ही आप अध्ययनप्रिय एवं कुशाग्रबुद्धि थे। आपने 'भेरा' के ही 'कृपाराम ऐंग्लो संस्कृत हाई स्कूल' से सन् 1913 में मैट्रिक (प्रथम श्रेणी) करने के उपरान्त छात्रवृत्ति के साथ डी.ए.वी. कालेज, लाहौर में प्रवेश किया। तत्पश्चात् पुन: छात्रवृत्ति के साथ सन् 1917 में एम.ए. (संस्कृत) में प्रवेश ले आपको सन् 1919 में रिकार्ड-तोड़ ख्याति अर्जित करने का श्रेय मिला। इसी वर्ष पञ्जाब वि.वि., लौहार के कुलपति डा. ए.सी. वुल्नर द्वारा राष्ट्रीय छात्रवृत्ति के साथ (संस्कृत उच्च शिक्षा के निमित्त) विलायत जाने के लिए प्रोत्साहित करने पर, इसे 'राष्ट्रीय सम्मान के विरुद्ध जान कर' विनम्रतया अस्वीकार कर दिया। सन् 1920 में आप पञ्जाब वि.वि. की 'शास्त्री' परीक्षा में सर्वप्रथम रहे।

विद्यार्थी-जीवन में स्वामी दयानन्द जी की कृतियों के अध्ययन का इनके सहज अन्त:करण पर अपूर्व प्रभाव पड़ा, जिससे इन्होंने वेदों तथा वैदिक संस्कृति के प्रसार-प्रचारार्थ सुदृढ़ सङ्कल्प कर लिया। वे स्वामी जी की स्वस्थ मान्यताओं, उच्च आदर्शों तथा 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'-सरीखी वैश्विक मानवता के प्रति प्रगाढ़ आस्था और समर्पण की भावना से संवलित हो गए। अतएव सम्भवत: वे 'चमनलाल' से 'विश्वबन्धु' के स्वरूप में परिणत हो गए।

आचार्य जी की वेदनिष्ठा तथा दृढ़निश्चयात्मक बुद्धि को भाँप कर सन् 1920 में महात्मा हंसराज जी ने इन्हें डी.ए.वी. कालिज के आजीवन सदस्य के रूप में मनोनीत किया। सन् 1921 में वैसाखी के दिन वेद एवं वैदिक संस्कृति के अभ्युत्थान के लिए 'दयानन्द ब्रह्म विद्यालय' की लाहौर में स्थापना हुई। आप इस नव संस्थापित संस्था के तेरह वर्ष (1921-1934)

तक आचार्य पद पर आसीन रहे और सन् 1934 में इसे त्याग कर 'लालचन्द पुस्तकालय' एवं शोध-विभाग, डी.ए.वी. कालिज, लाहौर के निदेशक बन गए, चाहे आपने सन् 1924 में 'विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान' का पूर्ण दायित्व भी संभाल लिया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जर्मनी के सुविख्यात विद्वान् ग्रासमैन ने 'ऋग्वेद' का इन्डैक्स तथा पदानुक्रमणिका तैयार की थी। सन् 1850 के आस-पास राजस्थान में जन्मे स्वामी विश्वेश्वरानन्द एवं सन् 1860 में गुजराती ब्राह्मण किन्तु राजस्थान में ही उत्पन्न स्वामी नित्यानन्द के अन्तःकरण में विचार उत्पन्न हुआ कि क्यों न इसी आधार पर अन्य तीनों वेदों की पदानुक्रमणियाँ तैयार की जाएँ? तत्कालीन धनाभाव की स्थिति, संस्कृत विद्वानों का अन्योन्य कलह-ईर्ष्या एवं अन्यान्य विपरीत एवं विकट परिस्थितियों के विद्यमान होने पर भी, बड़ौदा के महाराज सयाजी राव गायकवाड़ और इन्दौर, पटियाला, क्योंथल आदि के महाराजाओं द्वारा आर्थिक अनुदान का आश्वासन देने पर, दोनों ने सन् 1903 में शिमलास्थित 'शान्तकुटी' में चारों वेदों की अनुक्रमणिकायें बनाने की योजना बनाई। योजनानुसार स्वामी नित्यानन्द ने काशी में रह कर अनेक योग्यतम विद्वानों की सहायता से चारों वेदों की अनुक्रमणिकाओं को सन् 1907 तक तैयार कर सन् 1910 में निर्णय सागर प्रैस, बम्बई द्वारा प्रकाशित करवा दिया। वैदिक अनुसन्धित्सुओं ने इन ग्रन्थों की आमुक्तकण्ठ प्रशंसा की।

तत्पश्चात् वेदों की प्रकाशित इन अनुक्रमणियों के आधार पर, इस विशाल 'कनकार्डैन्स' की बुनियाद पर, वैदिक शब्दार्थ कोष तैयार करने का बृहत्कार्य करना था जिसके अनुसार वैदिक शब्दों के एक ही अथवा कौन-कौन से भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं? प्रत्येक शब्द का व्याकरण, उसकी निरुक्ति, उसके स्वर तथा उच्चारण को भी देखने की बात थी। दुर्भाग्यवश सन् 1914 के प्रारम्भ में स्वामी नित्यानन्द जी मात्र 54 वर्ष की आयु में दिवंगत हो गए, परन्तु स्वामी विश्वेश्वरानन्द, असह्य हानि पर भी, हतोत्साहित नहीं हुए और सन् 1923 शरदर्तु में लाहौर पहुँचने पर वे राय बहादुर मूलराज के साथ महात्मा हंसराज जी से मिले। सन् 1923 में दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय के विश्वबन्धु जी तब भी आचार्य पद पर थे। उपरोक्त तीनों ही व्यक्ति इनके पास वैदिक कोष के कार्योद्वहन की प्रार्थना के साथ पहुँचे तो आचार्य जी इसे अस्वीकार नहीं कर सके और वे निदेशक बन गए।

जनवरी, 1924 में वैदिक कोष का कार्यालय शिमला से लाहौर पहुँचा और इस प्रकार "विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान" (वी.वी.आर.आई.) की विधिवत् लाहौर में स्थापना हुई। सन् 1924 ग्रीष्मावकाश के दिनों, शिमला में पं. मदन मोहन मालवीय जी ने उपरोक्त कोष की रूपरेखा के अध्ययनोपरान्त आचार्य जी को अपने हिन्दू वि.वि., वाराणसी में स्थित होकर

कोषकार्य करने की पेशकश करने पर, समर्पण-स्वभाव ने विनम्र शब्दों में इसे अस्वीकार कर दिया। नवम्बर, 1925 में स्वामी विश्वेश्वरानन्द का शिमला में देहावसान हो गया, परन्तु मृत्यु से पूर्व उन्होंने अपनी समग्र सम्पत्ति का ट्रस्ट बना दिया, जो आगे चलकर वैदिक कोष का प्राणाधायक तत्त्व बना रहा।

सन् 1924 से 'वैदिक शब्दार्थ-कोष' का सर्वविध कार्य आचार्य विश्वबन्धु जी के निर्देशन में सुचारुतया सम्पन्न होता रहा और लगभग पाँच वर्षों के सतत-परिश्रम के बाद सन् 1929 में ''वैदिक शब्दार्थ-पारिजात'' नाम से निदर्शनमात्र के लिए कुछ पृष्ठों में प्रकाशित किया, जिसमें प्रत्येक शब्द के साथ व्याकरण-सम्बन्धी नोट एवं अर्थ-विषयक विस्तार –संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी भाषा में दिये गए। उदाहरणस्वरूप इस प्रस्तुति का देश-विदेश में भरपूर स्वागत हुआ। परन्तु सन् 1932 में कार्यानुभव से प्रतीत होने लगा कि 'वैदिक शब्दार्थ-कोष' की समुचित रचना केवल चार वेदों की पदानुक्रमणियों के आधार पर सम्भव न हो सकेगी। अत: संहिताओं के बाद सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय की पदानुक्रमणियाँ तैयार करनी होंगी, जिनमें ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि लगभग पाँच सौ ग्रन्थों में वैदिक शब्दावली का प्रयोग होता चला आया है। इस तरह, जब तक वेद के शब्दों के, वैदिक वाङ्मय के सारे प्रयोगों को न देखा जाएगा, तब तक उन शब्दों के अर्थों को ठीक से निश्चित नहीं किया जा सकेगा।

ऊपर निर्दिष्ट योजनानुसार, सन् 1935-36 मात्र दो वर्षों में बीस ब्राह्मण-आरण्यक ग्रन्थों से सम्बद्ध 1250 पृष्ठों के दो खण्डों को पूर्ण किया। जैसे-जैसे कार्य में प्रगति हुई, वैसे-वैसे कार्य की गरिमा-गम्भीरता भी स्पष्ट होती गई। सन् 1936 में पं.वि.वि. ने कार्य के महत्त्व की प्रशंसा का प्रस्ताव पास किया। आल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रैन्स, त्रिवेन्द्रम सन् 1937 के अधिवेशन में इस कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई। एवमेव अन्नामलाई वि.वि. के तत्कालीन कुलपति श्रीनिवास शास्त्री ने वैदुष्यपूर्ण अपूर्व कार्य की श्लाघा की। सन् 1940-41 से वी. वी.आर.आई. को भारत सरकार, प्रान्तीय सरकारों, राजे-महाराजाओं से कुछ आंशिक आर्थिक अनुदान उपलब्ध होने लगा। संस्थानीय शोध कार्यों को छापने के लिए मुद्रणालय की परम आवश्यकता थी, अत: सन् 1939 में अपना मुद्रणालय स्थापित कर लिया गया। सन् 1946-47 तक लाहौर में सम्पूर्ण कार्य सुचारुतया चल रहा था।

सहसा सन् 1947 में देश-विभाजन के भयंकर मेघ उमड़ने लगे। भारत स्वतन्त्र हुआ, 15 अगस्त, 1947 के बाद 17 अगस्त से वी.वी.आर.आई. एवं लालचन्द पुस्तकालय के कर्मिष्ठ ग्रीष्मावकाश के लिए चले गए। स्थिति बिगड़ने पर आचार्य जी ने लाहौर के मुसलमान उच्चाधिकारी से शोध-सामग्री तथा पुस्तकालय सहित लाहौर छोड़ने की अनुमति मांगी। अस्वीकार कर

देने पर इन्होंने अपने तीन सहकर्मियों (पं. देवदत्त शास्त्री, पं. रघुनाथ चन्द्र शास्त्री, पं. रामानन्द शास्त्री) के साथ लगभग एक हजार बोरों में तीन हजार मन सामग्री को जैसे-तैसे अमृतसर पहुँचाया।

इतनी सामग्री को कहाँ ले जाकर स्थापित किया जाए? की समस्या का समाधान, दानवीर लाल धनी राम भल्ला ने अपने गाँव बज़वाड़ा से बाहर होशियारपुर में एक साधु आश्रम बना रखा था, जिसमें यदा-कदा साधु-महात्मा आते-जाते रहते थे। बज़वाड़ा के ही महात्मा हंसराज की मृत्यु के पश्चात् इसी साधु आश्रम में, उनके जन्मदिन पर प्रतिवर्ष समारोह का आयोजन होने लगा जिसमें आचार्य जी भी निमन्त्रित रहते थे। नव-स्थापन के लिए आचार्य जी को, अपने कार्य के लिए, यह स्थान अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होने लगा। लाला धनीराम भल्ला जी से प्रार्थना किये जाने पर उन्होंने सहर्ष अनुमति प्रदान कर दी। नव-दिस, 1947 से, शिवालिक पर्वत-श्रृंखलाओं की उपत्यकाओं मे विद्यमान, नवगृह (साधु आश्रम) में शोधकार्य सुचारूतया सम्पन्न होने लगा। सत्तरह कर्मिष्ठों के लघुकाय इस संस्थान की 160 कर्मिष्ठों के साथ उत्तरोत्तर वैसे ही प्रगति होने लगी जैसे पौधे को पुराने स्थान से नए स्थान पर आरोपित कर देने पर होती है। आज इस पौधे की सुगन्ध भारत में ही नहीं, अपितु दिग्-दिगन्त विश्व को सुगन्धित कर रही है और यह आश्रम प्राच्य-विद्या, संस्कृति, अध्यात्म का अन्तरराष्ट्रीय केन्द्र बन चुका है। आचार्य विश्वबन्धु जी के तप-त्याग-परिश्रम ने अपना चौखा रंग दिखाना शुरू किया। आचार्य जी लाहौर में छब्बीस वर्ष कार्यरत रहे – तेरह वर्ष (1921-1934,) दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय के आचार्य, अगले तेरह वर्ष (1934-1947,) शोध-विभाग, डी.ए.वी. कालिज एवं साथ ही विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के संचालक। तत्पश्चात् होशियारपुर में (194-1973. तक) संस्थान को उच्च-शिखर तक पहुँचाया।

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान का विश्वविश्रुत मूर्धन्य प्रकाशन – "वैदिक पदानुक्रम-कोष" पाँच खण्डों तथा सोलह भागों में ग्यारह हजार पृष्ठ का है जिसे देश-विदेश में वैदिक अनुसन्धान के लिए अनिवार्य माना जाता है। इस बृहत्काय (एक लाख पच्चीस हजार से अधिक शब्दों के पूरे स्वरूप का ज्ञान तथा वे किस-किस ग्रन्थ में उपलब्ध हैं)। कोष के कार्य को यदि एक व्यक्ति से करवाया जाता तो सम्भवतः इसके निर्माण में उसे सात सौ वर्ष लगते, किन्तु आचार्य जी के त्यागशील नेतृत्व में विद्वानों ने मात्र 30-35, वर्षों में सम्पन्न कर दिया। वस्तुतः यह वैदिक शोध का कार्म, वैदिक वाङ्मय के ग्रन्थों की अकारादिक्रम से अनुक्रमणियाँ बनाने का कार्य अत्यन्त कठोर परिश्रम का था। कार्यकर्त्ताओं, विद्वानों को कार्य बाँट दिया जाता था और वे अपने-अपने हिस्से के ग्रन्थ अथवा ग्रन्थांश के शब्दों की पर्चियाँ बना-बना कर, अकारादि क्रम से, अलग-अलग खानों में डालते। काम रूटीन का था पर

परिश्रम-साध्य। जैसे समाचार-पत्र पढ़ते समय अनुभव नहीं होता कि कैसे एक-एक अक्षर को उठा कर इकट्ठा किया गया है; वैसे ही शोध के इन ग्रन्थों पर हुए परिश्रम का अनुमान, मात्र सुन्दर छपाई के ग्रन्थ को देख कर, लगाना असम्भव है।

''वैदिक पदानुक्रम-कोष'' के पश्चात् आचार्य जी ने ''वैदिक शब्दार्थ-कोष'' की आगामी योजना तैयार की जिसके लिए वे अपनी 125 वर्ष तक जीने की कामना करते थे, किन्तु दैव-दुर्विपाकवश एक अगस्त, 1973 प्रातः 9.20 पर आप अपने पञ्च भौतिक शरीर को त्याग कर यशःशेष हो गए।

आचार्य विश्वबन्धु जी प्रारम्भिक समय में, आर्य समाज दृष्टिकोण वाली सामाजिक एवं राष्ट्रीय संस्थाओं के सहयोगी, जात-पात तोड़क-मण्डल, आर्य स्वराज्य सभा, धार्मिक संकीर्णता, कट्टरता, जड़ता के विराधी थे। वे विश्वजनीन भावना-प्रवर्त्तक एवं विश्वबन्धुत्व के उपासक, विनोदप्रिय, संस्थान-अनुशासन में हठधर्मिता किन्तु अतिकोमल हृदय, सहनशील, सर्वहितेच्छु, यास्क द्वारा 'आचार्य' पद की तीनों व्युत्पत्तियों – आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थान्, आचिनोति बुद्धिदमिति वा – के समन्वयात्मक व्यक्तित्व सम्पन्न, शिष्यों-कर्मिष्ठों के प्रति आत्मीयता से ओत-प्रोत, उपाधियों-पदों के प्रति अनासक्त, राष्ट्रियता से संवलित, निर्भीक, दृढ़संकल्पी, विवेकशील, आत्मविश्वासी, सतत सारस्वत-साधनानिरत, अहर्निश अपने साध्य के प्रति चिन्तशील अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त, बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न, प्रकाण्ड वैदिक विद्वान् एवं ऋषिकल्प थे।

प्राचीन परम्परागत वैदुष्य के साथ-साथ अर्वाचीन अनुसन्धानात्मक प्रौढ़ता के कारण वैदिक तथा अन्य भारतीय विद्याओं से सम्बद्ध आचार्य जी द्वारा सम्पन्न शोधकार्यों की आचूड़ान्त गरिमा देश-**विदेश के** मनीषियों-संस्थाओं द्वारा सम्मानित है। अतएव इटली सरकार द्वारा सन् 1949 में – '**Knight Commander in Accademia die Templari**; सन् 1950, में फ्रांस सरकार द्वारा – Officer d' Accademic Francais एवं सन् 1968, में भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' उपाधि से इन्हें सम्मान्नित किया। सन् 1950, में एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई ने इन्हें महा-महोपाध्याय पी.वी. काणे-स्मारक स्वर्णपदक तथा प्राच्यविदों ने 24वें अखिल भारतीय प्राच्य विद्या-सम्मेलन, वाराणसी-अधिवेशन (1968) में मुख्य-अध्यक्ष के रूप में इनकी अपूर्व विदग्धता को सम्मानित किया। सन् 1965, में कुरूक्षेत्र वि.वि. ने इन्हें डी. लिट्. (मानद) उपाधि से अलङ्कृत किया। बहुभाषाविद आचार्य जी के विषय में, पूर्व कुलपति, पञ्जाब वि. वि., श्री सूरजभान की मान्यता थी कि, – ''What I admired in him most was the courage of his convictions. He did not believe in giving in, if he was convinced that his stand was correct. He stuck to his view-point with a rare courage and determination.''

(V. Indological Journal. Vol. XII. (1974) P. VIII.)

'परजनहिताय-परजनसुखाय' के सम्पोषक, तपस्वी, त्यागी, वेद-समुपासक आचार्य विश्वबन्धु जी के लिए किसी अज्ञात कवि की निम्न रचना अक्षरशः सत्यापित हुई प्रतीत होती है:-

"इयमुन्नतसत्त्वशालिनां महतां कापि कठोरचित्तता।
यदुपकृत्य भवन्ति दूरतः परतः प्रत्युपकारकाङ्क्षया॥"

आचार्य विश्वबन्धु जी प्राच्य-विद्याध्ययन एवं सांस्कृतिक क्रान्ति के पक्षधर मनीषियों में से अग्रिम थे। उनके अद्‌भुत नेतृत्व में विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान ने अभूतपूर्व प्रगति के साथ-साथ निम्न विभागों के अन्तर्गत लगभग एक हजार वैदिक साहित्य से सम्बन्धित ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन तथा प्रकाशन किया है:-

1. महात्मा हंसराज हस्तलेख-विभागः

भोजपत्र, ताड़पत्र, हस्तनिर्मित कागज पर भारतीय लिपियों में हस्तलिखित दस हजार ग्रन्थों का संग्रह जिनमें से लगभग तीस का प्रकाशन और इतनों का ही सम्पादन हो रहा है। सभी ग्रन्थों का विवरणात्मक सूचीपत्र दो भागों में प्रकाशित है।

2. सामान्य भारत-भारती शोध-विभागः

सिद्ध-भारती (डा सिद्धेश्वर वर्मा अभिनन्दन-ग्रन्थ) और सरूप-भारती (डा लक्ष्मण स्वरूप अभिनन्दन ग्रन्थ) सदृश ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

3. स्वामी सर्वदानन्द सांस्कृतिक साहित्य-विभागः

इस विभाग का प्रमुख उद्देश्य देश-विदेश की भाषाओं में से सार्वजनिक सत्साहित्य तैयार एवं प्रकाशित करना है। इस विभाग के प्रकाशनों की संख्या सैकड़ों में है।

4. स्नातकोत्तर शिक्षण-विभागः

सन् 1959 से पञ्जाब वि.वि. चण्डीगढ़ से सम्बद्ध तथा शास्त्री, आचार्य, एम.ए. (संस्कृत) कक्षाओं का अध्यापन। पी-एच. डी. एवं डी. लिट्, की मान्यता। यह विभाग सन् 1965. से. पं॰ वि. वि. के अधीन और आजकल प्रो. गणेश दत्त भारद्वाज अध्यक्ष हैं।

5. विश्वेश्वरानन्द-पुस्तकालयः

लाहौर से लाई गई सात हजार पुस्तकों से आरम्भ; अब इसमें लक्षाधिक पुस्तकें। पं. वि. वि.के अधीन।

6. **मुद्रण-विभागः**

पूर्व मुद्रणालय लाहौर में ही रह गया। सन् 1947 में पुनः स्थापना के पश्चात् ऊँचे स्तर के, विशेषतः संस्कृत ग्रन्थों के शुद्ध मुद्रण के लिए देश-विदेश में सुविख्यात। धनाभाव के कारण आधुनिक मुद्रण-तकनीक-योजना का कार्यान्वयन नहीं हो सका।

7. **पत्र-पत्रिकाएँ:**

i. **विश्वज्योतिः** (मासिकः साहित्यिक तथा सांस्कृतिक विषय) सन् 1952 से प्रकाशित।

ii. **विश्वसहित्यः** (त्रैमासिकः सन् 1959 से 1961 तक) उद्देश्य विश्वभाषाओं के साहित्य को हिन्दी में प्रकाशित करना था।

iii. **विश्वसंस्कृतम्ः** (त्रैमासिकः सन् 1963 से साहित्यिक शोध सम्बन्धी)।

iv. **विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीच्यूट न्यूज़ बुलेटिनः** (अर्धवार्षिकीः अंग्रेजी में इण्डोजिकल जर्नल)।

8. **विश्वेश्वरानन्द पुस्तक विक्रय-विभागः**

संस्थान के अपने सभी प्रकाशनों तथा अन्य प्रकाशनों को उपलब्ध करवाना एवं विक्रयण।

9. **विश्व-सत्सङ्गः**

साप्ताहिक (रविवार) विश्व-सत्सङ्ग का आयोजन। इसका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक न होकर सार्वभौम है।

10. **विश्वभाषा-कोषः**

भारोपीय-परिवार की अनेक भाषाओं के शब्द-अर्थ में अद्‌भुत सादृश्य झलकने के आधार पर। आचार्य जी द्वारा लगभग डेढ़ लाख लिखवाई पर्चियां सुरक्षित। आधुनिक भाषा-विज्ञान में प्रोटो-लिंग्विस्टिक। अभी कार्य होना है।

11. **हिन्दी-शिक्षण-विभागः**

हिन्दी भाषा के प्रसार की दृष्टि से छात्राओं के लिए निःशुल्क प्रभाकर श्रेणी।

12. **कम्प्यूटर-शिक्षण-विभागः**

निर्धन (न्यून आय वाले) विद्यार्थियों को शिक्षण।

13. **डा. लुड्विक् स्टर्नबाख़ महासुभाषित संग्रह सम्पादन-विभागः**

सुप्रसिद्ध फ्रांसीसि विद्वान् डा0 लुड्विक् स्टर्नबाख़ (सन्1909-1981) द्वारा बीस भागों के 'महासुभाषितसंग्रह' के सम्पादन की योजना, स्वयं चार भाग ही सम्पादित कर सके थे। 25.3.1981 को हृदयगति-अवरोध से निधन के पूर्व अपनी योजना, सम्पत्ति, सन्दर्भ-ग्रन्थ तथा अनुसन्धान से सम्बन्धित सम्पूर्ण सामग्री की वसीयत विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के नाम कर दी थी। संस्थान इस महाकोष के आठ भाग प्रकाशित कर चुका है।

संस्थान के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशनः

1. वैदिक पदानुक्रम-कोष : (पाँच खण्ड तथा सोलह भागों में विभक्त, ग्यारह हजार पृष्ठ, एक लाख पच्चीस हजार से अधिक शब्दों का पूर्ण विवरण, 25 विद्वानों के 35 वर्ष लगे)।

2. पश्चिमोत्तरशास्त्रीय वाल्मीकि-रामायणः (पाँच भाग)।

3. स्कन्दस्वामी, वेङ्कटमाधव, उद्गीथ, मुद्गल-भाष्यसहित ऋग्वेदः (आठ भाग)।

4. सायण-भाष्यसहित अथर्ववेद (पाँच भाग)।

5. कल्हण, जोनराज, श्रीवर एवं शुककृत राजतरङ्गिणी; (चार भाग)।

6. महासुभाषित-संग्रह : (आठ भाग)।

7. अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणिका।

8. ब्राह्मणोद्धार-कोष।

9. उपनिषद्वाक्योद्धार-कोष।

10. सोमादित्यकृत भाष्यसहित वैतान-श्रौतसूत्र।

11. हस्तलेख-संग्रह-परितालिका (दो भाग)। आदि।

संस्थान में पधारे गणमान्य व्यक्तिः

सन् 1947 के पश्चात् विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर की विश्वविश्रुत अनेकों परियोजनाओं से विमुग्ध जहाँ हजारों पाश्चात्य-पौर्वात्य अनुसन्धित्सु

मनीषियों, वैदिक विद्वानों ने आचार्य विश्वबन्धु जी से भेंट की; वहाँ अनेकों मूर्धन्य भारतीय राजनेता, विद्वत्समाज भी संस्थान में पधारा:–

1. सन् 1954 डा. कर्णसिंह (सदर-ए-रियासत, काश्मीर राज्य)।
2. सन् 1955 सरदार स्वर्णसिंह (केन्द्रीय मन्त्री, भारत)।
3. सन् 1956 सर सी.डी. देशमुख (चेयरमैन, यू.जी.सी.)।
4. सन् 1956 डा. सुनीति कुमार चैटर्जी (चेयरमैन, संस्कृत-आयोग)।
5. सन् 1957 श्री अनन्तशयनम् आयंगर (अध्यक्ष, भारत-लोकसभा)।
6. सन् 1958 डा. एन.वी. गाडगिल (राज्यपाल, पञ्जाब)।
7. सन् 1959 डा. हुमायूं कबीर (केन्द्रीय शिक्षामन्त्री, भारत)।
8. सन् 1960 श्री सैम्युल मथाई (अध्यक्ष, यू.जी.सी.)।
9. सन् 1960 आचार्य विनोबा भावे (भूदान-प्रवर्त्तक)।
10. सन् 1962 डा. के.एन. नीकंठ शास्त्री (अध्यक्ष, यू.जी.सी.समिति)।
11. सन् 1963 डा. जाकिर हुसैन (उपराष्ट्रपति, भारत)।
12. सन् 1964 श्री पट्टम ए. थाणु पिल्लै (राज्यपाल, पञ्जाब)।
13. सन् 1966 श्री धर्मवीर (राज्यपाल, पञ्जाब)।
14. सन् 1970 डा. डी.एस. कुठारी (अध्यक्ष, यू.जी.सी)।
15. सन् 1971 श्री दादा भाई चिन्तामणि पावटे (राज्यपाल, पञ्जाब)।
16. सन् 1971 डा. गोपाल स्वरूप पाठक (उपराष्ट्रपति, भारत)। आदि-आदि।

आज यद्यपि विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध सस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर धनाभाव के कारण विकट परिस्थितियों को झेलता हुआ अपनी प्राच्य-विद्यासम्बन्धी अन्यान्य परियोजनाओं का कार्यान्वयन नहीं कर पा रहा है; तदपि संस्थान के उपाध्यक्ष डा. ओ.पी. चौधरी के सुदृष्टिपूर्ण पथप्रदर्शन एवं प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल के सुदृढ़ तथा कुशल नेतृत्व में यह संस्थान आचार्य विश्वबन्धु जी के स्वप्नों को साकार करने में प्रयत्नशील है। पद्मभूषण आचार्य (स्व.) विश्वबन्धु जी की त्यागमयी अभेद्य भित्तियों पर समाश्रित यह वैदिक शोध संस्थान, फर्वरी-2004 में अपनी जन्म-शताब्दी मनाने के पश्चात्, भारत अथवा पञ्जाब प्रान्त या होशियारपुर (उत्तरी भारत) की ही नहीं अपितु विश्व की वैदिक शोध संस्थाओं को शिरोमणि है।

MORALITY -- AN INDIAN THOUGHT

Prof. Ramnika Jalali
H.O.D, Sanskrit Deptt.
Jammu University, Jammu

Man is primarily moved by two interest : individual and social. The former pertains to his close self and the later determines his relations with other members of the society while he is engaged in his dealings with them from day to day. For promoting these two interests, he passes through many phases. One of these phases constitutes 'morality'. It has an intimate correlation with his daily life. From these daily dealings one can read the habits, conduct and character of a person. 'Morality' is known as 'Ethics', a science which analyses the human behaviour. ''Ethics is the science of goodness or badness, rightness or wrongness of human conduct''.[1]

Good behaviour is praised as moral and bad behaviour is condemned as immoral. But the question arises as to how one can determine the moral or immoral aspect of a conduct. In other words, what are the sources of morality?

Human being has many kinds of excellences, the first and the main being intellectual excellence. It has it's natural resource and is the source for many qualities. It compels the mind to think over more and more whenever some problems are created. The problems may be self made or created due to circumstances but many of these get the way to solution through human intellect. Morality is also the creation of human being themselves. It is created through different environments. It cannot come by nature because it changes and changing elements do not spring originally. Morality is a sort of bondage for a person and the society. Some laws or rules suitable for a particular time, particular place and particular social circumstances are made from time to time for the development of the individual and the society. For all such moral laws, ancient Indian thinkers have mentioned various sources. According to Yajnavalkya[2] the sources of Dharma are:

---

1. Nitisastra by Surendra Kumar (I, P. 1).
2. श्रुतिः स्मृतिः सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक् सङ्कल्पजः कामः धर्ममूलमिदंस्मृतम् ।।–Yaj. (1.7)
पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदा स्थानानि विद्यानां धर्मस्य चतुर्दश ।।–Ibid. (1.3)

i. Sruti i.e. Vedas

ii. Smrti i.e. Law books

iii. Sadacara i.e. conduct of the good prople Purnas, Nyaya and Mimamsa are also the source of Dharma according to him.

Veda is the principal source of Dharma i.e., morality. Gautama[1] says that Veda is the origin of Dharma. Tradition and practices of the persons knowing Veda are also the source of Dharma. Apastamba has the view that the social customs and conventions approved by learned persons who know Dharma are also the source of Dharma but Vedas are the main sources.[2] According to Mimamskas also Veda is the source of Dharma.[3]

Manu also considers all the Vedas as the main source of Dharma (morality) and further adds to tradition, practice, conduct and self satisfaction of those persons who know Vedas.[4] The term Smrti used in the compound 'Smrtisila' literature was yet to come into existence. Smrti and Sila stand here for the customs and conventions. For a long time these rules existed only in the memory of the custodians of tradition and so by 'Laksana' they began to be called as Smrti.

The next source of mrality (Dharma) is Smrti Vasistha[5] states that instructions of Smrti and Smrti are Dharma. In their absene the practices of authorities are Dharma. Jaimini also recognises Smrti as the secondary source of law on the hypothesis that it is based on the Sruti. He observes, "The Smrtis having been complied by sages who were the respositories of the revelation, there artises an inference that they were founded on the sruti and should, therefore, be regarded as authoritative.[6]

Next comes 'Sadacara' i.e., conduct of good people which has been declared as a source of Dharma. These were customary laws accepted by the society and were divided into three classes.

---

1. वेदो धर्ममूलम्। ताद्विदां च स्मृतिशीले।-Gaut. Dh. S. (I. 1-12)
2. धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च।-Apastamba Dh.S. (I. 1. 1-2)
3. 'Incarnation of law from Mimamsa Stand Point' article in Charudeva Sastri Felicitation Volume Delhi, 1947, p. 359
4. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले व तद्विदाम्।
   आचारश्चैव साधूनामात्मनः तुष्टिरेव च।।-Manu (II.6)
5. श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्।
   शिष्टः पुनरकामात्मा।-Vasistha Dh. S
6. 'Incarnation of law from Mimamsa Stand Point' article in Charudeva Sastri Felicitation Volume Delhi, 1947, pp. 359-364.

1. Special practices prevalent in different castes.
2. Family traditions.
3. Special practices prevalent in different castes.

According to Kant,[1] ability, power, money respect, health, satisfaction and prosperity all belong to one's luck. All these factors are not unwanted or looked down upon but these can be good only when the base of these is good will. It is the will that differentiates good from bad. If it is good, it is moral otherwise immoral.

It is very clear that the conduct of good based on good will is the most important source of morality as it stands even in the absence of Sruti and Smrti.[2]

According to ancient Indian thinkers the Vedas give full knowledge of hidden things which cannot be understood otherwise, and so they affected religion and ethics very strongly.

Smrtis have given very elaborate description of morals. These are full of the postive and negative injuntions prescribed for the people. Reason also was considered important in the domain of sacred law. Whenever there were conflicting views of different Smrtis or there was conflict between Sruti and Smrti, the theory of 'Yugadharma'[3] was resorted to and if the conflict could not be explained even in that way, the sages contemplated that preference should be given to reason. Narada says, "In a case of conflict between Dharmasastra that which is consonant with reason should be adopted as the proper coursce".[4] Again Yajnavalkya say, "In a case of conflict between Smrtis, reason prevails according to usage".[5]

MORALITY ACCORDING TO VEDIC LITERATURE

The oldest literature of Hindus is Vedic literature in which Rgveda is the oldest Veda.

We do not find the word 'Niti' used independently in Vedic literature. It is in compound form such as 'Rjuniti'.[6]

1. Kant Ka Niti Darsana by Dr. Chaya Rai, p.1
2. Manu (II.9)
3. अस्मिन्मन्वंतरे धर्मा कृतत्रेतादिके युगे।
   सर्वे धर्माः कृते जाताः सर्वे नष्टाः कलौयुगे।। - Parasara (I. 16)
4. धर्मशास्त्रविरोधेतु युक्तियुक्तो विधिः स्मृतः। - Narada (I. 4)
5. स्मृत्योः विरोधेन्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः। - Yaj. (II. 21)
6. ऋजुनीति नो वरूणो मित्र नयतु विद्वान्। - R.V. (I. 90.1)

According to the commentator Skanda it means a system of behaviour which leads a man to the right path.[1] Mudgala and Sayana consider it a system of behaviour which lacks bad will (crookendness).[2] Dayananda Saraswati has explained it as a conduct which is right, simple and pure.[3]

In Rgveda we often find the word 'Deva'. It is derived from the root 'div' which means to do or to shine. It contains ethical importance. Every Sukta has its own 'Devata'. All the Deities contain some ethical elements but Varuna is specially the 'Deva' of morality. Varuna is lauded as upholder of physical and moral order. He is great lord of the laws of nature. By his ordinances the Moon shines at night and the Sun during the day. He is also a regulater of the water. He is all knowing and witnesses man's truth and flasehood. He is described as the ordainer of duties for persons and he who does not obey his rules of morality is fastened by Him with fetters of three types.[4] Thus, ''He knows the path of birds that fly through heaven, and Sovran of the sea.

''He knows the ships that are there on.

True to his holy laws, he knows the twelve moons with their progeny.

He knows the moon of later birth. He knows the pathway of the wind, the spreading, high and mightly wind:

He knows the Gods who dwell above Varuna, true to the holy law, sits down among his people; he, mosts wise, sits there to govern all.

From thence perceiving he beholds all wonderous things, both what hath been.

And what hereafter will be done. May that Aditya very wise, make fair paths for us all our days.

May he prolong our lives for us. Varuna wearing golden mail, hath clad him in a shining robe:

---

1. ऋजु नयतीति ऋजुनीति। - Skanda on R.V. (I. 90.1)
2. ऋजुनीत्या ऋजुनयनेन कौटिल्यरहितेन गमनेन नयतु अभिमतं स्थानं प्रापयतु - Mudgala
   ऋजुनीत्या ऋजुनयनेन कौटिल्यरहितेन गमनेन नयतु अभिमतं स्थानं प्रापयतु - Sayanaa
3. ऋजुनीति ऋजुः सरला शुद्धा चासो नीतिश्च तथा।
   - R.V. (Bhasya) by Dayananda Saraswati Swami (part II)
4. उदुत्रमं वरूण पाशमस्मद वाधमं वि मध्यमं त्रथाय।
   अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम।।
   प्रास्मत् पाशान् वरूण मुत्र्च सर्वान्य उत्तमा अधमा
   दुष्वप्न्यं दुरितं निष्वास्मदथ वारूणाये।
   गच्छेम सुकृतस्य लोकम्।। - A.V. (VII 83. 3-4)

His spies are seated round about.''[1]

The above mentioned verses enable us to haves some knowledge of Varuna's power or importance through which he commands every phase of life full of morals. In one verse (R.V I 25.12) its is mentioned that Varuna leads to good path. This good path indicates the path of morality.

The second God of morality is 'Mitra'. He guides people towards truth and honesty. It is said that, ''Mitra when speaking, stirreth men to labour: Mitra sustained both the earth and heaven. Mitra beholdeth men with eyes that close not. To Mitra being, with holy oil, obtation.''[2]

There are many other Gods as Agni, Soma, Savitra, Visnu, Rudra, Prthivi, Usas, Asvin, Vayu, Purusa, Prajapati, and Yama who are described as leading the people towards mbrality. The two concepts of Rta and Satya (truth) are the forces behind the morality explained by the Vedas.

Rta is the Fervour which Kindles to its height Eternal law and Truth.[3] The word 'Rta' has been derived from the root 'r' which means to go to change. Rta has been described in the Vedas as pervading all the worlds and the directions.[4] It is free from Geographical and temporal changes. It is the supreme law controlling all the forces of nature. All the gods the Sun, the moon follow the path of Rta.

''Rta was above the gods. It should be noted that in Hinduism, it is the principles and not the gods which were held high, eternal, supreme and perfect. The law of Rta, the law of Dharma, the law of Karma - These are the laws which are held supreme and above the gods. Even the god''[5] This is the first field of Rta meant for universe, it leads to other two fields in which the second is for morality and third is for Yajnas.[6]

'Satya' (truth) is again indirectly Rta as it is created by Rta itself in the moral sphere. Rta is having two aspects, the actual and the ideal, ideal is laid up for people to follow.[7]

---

1. R.V. (I.25.7-13)
2. मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम।
   मित्रः कृष्टीनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं धृतवज्जुहीत।। - Ibid (III. 59.1)
3. ऋतं च सत्यं चाभाद्धातपसोऽध्यजायत। -Ibid (X. 190.1)
4. पारि विश्वा भुवनान्यायम्
   ऋतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।। - A.V. (II. I. I. 5)
5. 'The concept of Dharma inValmiki Ramayana' by Benjamin Khan, p. 25
6. R.V. (VII. 86. 1-8).
7. The Concept of Dharma in Valmiki Ramayana by Benjamin Khan, p.28

Thus the morality of Vedic period is based on the concept of Rta.

After Rgveda the Vedic literature includes Yajurveda, Atharvavada, Samaveda, Aranyakas, and Upanisads. Religion and Ethics had become tough during this period. Taitt, Upanised mentions some duties for a person in which it sayss that a man should take the path of truth and Dharma, one should consider one's father, mother and teachers as the gods, one should do only the good works not others.[1] Social conditions were changing. The status of a woman was loweing down. She was considered weak and unauthorized to own the property.[2]

Moving towards the political morality, we can observe that the kingdom was the property of the people.[3]

We have already discussed the concept of morality in general and its development as found in the literature of various periods. We are going to deal with the concept of morality in Smrti-literature. Smrtis, a section of Dharmasastra literature are the codes of Hindus which deal with morality. Of all the Smrtis, Manu Smrti is the one which has fully explained morality.

According to Manu, Veda is the main source of Dharma[4] and Smrtis prescribe rules of conduct which come under Dharma. thus man who follows Dharma suggested by the Veda and the Smrtis gets real happiness in this world and in another world also.[5] Manu directs human beings to follow the morals created for them by the sages. According to him morality or Dharma has an important place in human life. Manu has discussed in Chapter XII the good and bad conduct of people which is the cause of the various conditions of life of man. A person who commits sins becomes a low caste

---

1. सत्यान्न प्रमदितव्यम्।
धर्मान्न प्रमदितव्यम्।
कुशलान्न प्रमदितव्यम्।
मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव।
आतिथिदेवो भव। यान्यवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि।। - Taitt. Up. (Siksa. 11. 1-2)
2. तस्मातिस्त्रयो निरिन्द्रया अदायादोरपि। - Taitt. Sam. (VI. 5.8.2)
3. त्वां विशो वृणतां राज्याय। - A.V. (VIII. 4-2)
4. वेदोऽखिलो धर्ममूलं। - Manu(II.6)
5. श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः।
इह कीर्तिमाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्।। - Ibid (II.9)

in the next birth or is born as a bird or as a beast or becomes an inanimate object.[1] He also therefore, advised everyone to undrestand these transitions of sould according to his righteous or unrighteous conduct and fix his mind on Dharma,[2] because he has to reap the results of the actions performed by him.[3] Yajnavalkya also agrees with the views of Manu regarding the theory of Dharma and Karma.[4]

Manu has classified the morals in three categories mainly, 'Samanyadharma' 'Varnasramadharma' and 'Apaddharma'.[5] He has also dealt with many other qualitative Charmas like 'Nityadharma' (usual Dharmas), 'Naimittika' (unusual), 'Kula' (family's), 'Stri' (lady's), 'Purusa' (man's), 'Vyavaharas' (every day dealing), 'Desa' (country's), 'Kala' (times), 'Raja' (King's), 'Putra' (sons), 'Pati' (husband's)s, 'Patni' (wife's), 'Guru' (teacher's), 'Sisya' (student's) etc. Each one of these Dharmas prescribes a paticular role that an individual has to play at a particular course of his life for his own development and the development of the society. Though Manu has regarded Dharma as the group of moral codes derived from 'Sruti' and Smrti, he also pointed out that Dharma is 'that' which is followed by the learned prople and accepted whole heartedly by the good people who are always immune to the feeling of hatred and disaffection towards others. According to him, he alone can be described as the knower of Dharma, who interprets the utterances of the sages and the directives of Dharma by modes of reasoning which is not contrary to the Veda Sastra. Thus, Manu has given equal importance to reasoning also in the determination of Dharma.

Manu believes in "Trivarga"[6] or three goals of human life namely, Dharma, Artha and Kama. The last and the ultimate goal of human life is moksa which is to be attained through Dharma, Artha and Kama. Dharma, Artha and Kama should not transgress one another. Thus Kama in itself is not bad but it leads to disastrous result

---

1. शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देह संभवम्।
   कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः।।
   शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
   वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्। -Ibid (XII. 3,9)
2. एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा।
   धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः।। - Ibid (XII. 23)
3. यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते।
   तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते। - Ibid (XII.81)
4. अनन्ताश्च यथा भावाः शरीरेषु शरीरिणाम्।
   रूपाव्यापि तथैवेह सर्वयोनिषु देहिनाम्।। - Yaj. (III. 132)
5. Manu I
6. धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
   अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः।। - Manu (II. 224)

when it transgresses Dharma. The physical beauty of Parvati is not deemed enough to make her love for Siva fruitful.[1] She had to go through hardest penance to achieve it. The lusty love of Dusyanta and Sakuntala was punished by Durvasa's sapa and the lusty love of Urvashi suffered when she was turned into a creeper.[2]

Manu has prescribed ten duties which are included under Samanya Dharma and are to be followed by everyone.[3]

Yajnavalkya also has explained Dharma of different Varnas and Asramas and the Mitaksara Commentary of Yaj, says that Yajnvalkya deals with 'Varnadharma' (duties concerning four classes of man:) 'Asramadharma' (duties concerning four stages of human life), 'Gunadharma' (duties of human beings with reference to characteristic tendencies which are innate in them, ' special duties' (concerned with special occasions) 'Sadharanadharama' (duties common to all men and women as human beings). He has also pointed out that the high dharma of man is self realization for the salvation of soul.[4]

Besides the ten dharmas or morals, Manu has mentioned many other morals such as:

1. Refraining from giving the false evidence.[5]
2. Refraining from injury to living beings.[6]
3. Respect for guests.[7]

These are the general morals but we have also the morals mentioned for women which are called 'Nari-Dharma'. In this Manu has very elaborately set the morals for ladies. Many other Smrtis also deal with this subject in general.

---

1. Kumarasambhavam by Kalidasa
2. Vikramorvasiyam by Kalidasa - (Act. IV)
3. Manu II
4. इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
   अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।। - Yaj. (I. 8)
5. लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्क्रोधात्तथेव च।
   आज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते।। - Manu (VIII. 118)
6. योऽहिंसकानि भूतानि हिनसत्यात्मसुखच्छया।
   स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते।। - Ibid (V. 45)
7. संप्राप्ताय त्वतिथये प्रद्दया दासनोदके।
   अन्नं चैव यथा शक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्।। - Ibid (III. 99)

Manu has dealt with the duties of various sections of women. Women is described as a girl (daughter), a wife, a mother, a widow and a prostitute. For all these Manu has recommended different moral codes.

Moral codes suggested for women by Smrtis show the position of women in the society of their times. In Hindu Dharma a woman has been give very high place. She is considered man's better half and the social life is not regarded complete without a woman. Manu says thats gods reside there, where women are worshipped.[1]

Inspite of the hard rules of the Smrtis there remained the existence of various practices which were not in accordance with the laws of Smrtis. But, still there is no doubt that the hold of the Smrtis became more and more tightened with the advance of time and we find it in practice also as the Satipratha and widow-remarriage was not favoured by the jurists, Parivrajika of Malvikagnimitram also remains celibate after being a widow, neither she became a Sati nor is she remarried.[2]

We have already mentioned that 'Yugadhamra' has an important existence in determining the concept of morality. Time and place also have great significance. Hindu thinkers recognize that the behaviour of a man depends on the conditions, demands and exigencies of the time and place. Human beings are always confronted with the complexities of problems created by time and place. To solve those problems they should be prepared for the radical changes in dharma. Smrtikaras themselves have accepted this Yugadharma.[3]

Mahabharata was the period of fights. The famous was of Kuruksetra its proof. When Arjuna refuses to fight, lord Krisna persuades him to follow the path of Svadharma. It is full of ethics. The second chapter of Gita is containing these contents and these are based on Karmayoga. We get three stages of the moral evolution of a human being.[4]

---

1. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
   यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।। - Manu (III. 56)
2. Malvikagnimitram by Kalidasa (Act II)
3. वेदोक्तमायुर्मत्योनामाशिषश्चैव कर्मणाम्।
   फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम्।।
   अन्ये कृतयुगे (२) धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
   अन्ये कलियुगे नृणां युगद्रासानुरूपतः।।
   तपः परं कृतयुगे त्रेतायां। ज्ञानमुच्यते।
   द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दनिमेकं क्लौ युगे।। - Manu (I. 84-86)
4. Bhartiya Niti Ka Vikasa by Dr. Rajbali Pandey, p. 64

1. Mudha
2. Jagruka
3. Siddha

These are containing "Tamoguna", "Rajoguna" and "Satvaguna" respectively. Karmayoga teaches us that the acts done by us should be without selfinterest. Any action should be for the duty only and not for the sake of its fruit.[1] The Gita's ethical teaching lies in the few lines when Krisna asks Arjuna to fight.

"Whence, hath this despair come to thee in this (time of) crisis, it is unbecoming to an Aryan, it does not leads to heaven, it is disgraceful, O Arjuna yield not to this importance, O Partha (Arjun)s, for it is not proper of thee. Abandons this petty weakness of heart and arise, O oppressor of the foe."[2] This ethical activism is having two conflicting modes :

1. 'Pravrtti' - active life
2. 'Nivrtti' - quietism

According to Gita the Karma should be without Kama otherwise it leads to rebirth.[3] In the political moralitry the duty of the king was to protect dharma while promoting Artha and cultivating Karma. We find its illustration in Ramayana where the King was convinced by his wife's purity but could not keep his wife with him. Here the balance of ruler's power is shown.

Mahabharata advises a person to attain Dharama, Arth and Kama, otherwise he remains unhappy. Life is the source of all troubles and Moksa is the greatest Purusartha. It is very difficult to get it[4]. This problem is solved by Asramdharma and Varnadharma.[5]

---

1. कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन।
   मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङगोऽस्त्वकर्मणि।। - Gita(Ii. 47)
2. कुतस्त्वा वशमलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
   अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।। - Gita (II. 2)
   क्लेव्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
   क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं व्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।। - Ibid (II. 3)
3. इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
   तयोर्न वशमागच्छेतौ ह्यस्य परिपन्थिनो।। - Ibid (III. 34)
4. यः सेवते धर्ममर्नबुद्धिः।
   अस्वोऽप्यनीशश्च तथैव राजंस्तदार्जवं स समाधिस्तदार्यम।।
   - Mahabharata- Adiparva (LZZZZVII. 4)
5. Mahabharata- Adiparva

Varndharma has been also explained in Mahabharata from the point of view of ethics. Following are the morals prescribed for all varnas.[1]

i.	'Rjuta'	—	Veracity
ii.	'Sarvabhu-todaya'	—	For all creatures
iii.	'Ahimsa'	—	Refraining from injury to living being
iv.	'Apramada'	—	Moral watch fulness
v.	'Sraddhakarma'	—	Funeral rites
vi.	'Atithi Seva'	—	Service of guest
vii.	'Satya'	—	Truth
viii.	'Santi'	—	Peace
ix.	'Patni Vrata'	—	Faithfulness to wife
x.	'Santosa'	—	Satisfaction
xi.	'Sucita'	—	Purity
xii.	'Advesa'	—	Refraining from jealousy
xiii.	'Atma-Jnana'	—	Self-Knowledge
xiv.	'Jijnasa'	—	Curiosity (urge)

Morality is the act done by learned men who know Veda fully and who have good will behind theses acts. Morality is Dharma itself. This has relation to many other social and psychological aspects of a human being. Sruti (Veda), Smrti and Sadacara are its main sources. It has been classified by the literature of various times. Different duties prescribed by Vedas or Smrtis are considered morals for an individual or for a particular society. These change according to the time, place and circumstances.

1: आनृशंस्यमहिंसा चा प्रमादः संविभागिता।
श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च।।
स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्माः साधारणा नृप।। - Mahabharata Santiparva (CCLXXXV. 23-24)

सिद्धान्तचंद्रिका – एक परिचय

प्रोफेसर शारदा गुप्ता
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

सिद्धान्तचंद्रिका का आरम्भ जगत् – कारणवाद से संबंधित विभिन्न विप्रतिपत्तियों से हुआ है। जगत् का कर्तृत्व है। श्रुतियाँ जिस जगत्–कारणवाद का समर्थन करती हैं उसी का विवेचन इस ग्रंथ में हुआ है। सर्वप्रथम जगत् के अकर्तृत्व के पोषक नैयायिकों का मत निराकृत हुआ है तथा जगत् के सकर्तृत्व–सिद्धान्त की स्थापना हुई है।[1] 'सत्यम् ज्ञानमनन्तम्' — इस रूप में ब्रह्म के लक्षण के प्रतिपादन के प्रसङ्ग में महान् नैयायिक उदयनाचार्य के मत का उल्लेख मिलता है। नित्य तथा अनित्य द्विविध प्रमा के अङ्गीकर्त्ता गौतम का प्रमाविषयक मन्तव्य उल्लिखित है। ब्रह्म का प्रमेयत्व दिखलाते हुए नैयायिकों की 'अनुमिति' की चर्चा मिलती है। व्यावहारिक सत्य तथा पारमार्थिक सत्य इस द्वैविध्य का प्रतिपादन सोदाहरण हुआ है तथा सत्य तथा असत्य की परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में विषय का स्पष्टीकरण हुआ है और इस तरह से सत्यमविकृतं ब्रह्मकारणमिति—इस रूप में ग्रंथकार का अभिमत मत प्रतिष्ठित होता है।[2]

ज्ञान के कर्तृत्व से सत्य तथा अनन्त स्वरूप उत्पन्न होता है। अनन्तता अविभाज्य के अर्थ में है जिससे ज्ञानकर्तृत्व विकृति का परिचायक बनकर सत्यता तथा अनन्तता में बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।[3] आत्मा का ज्ञान उसके ज्ञाता के अभिप्राय से है जैसे आत्मा से अतिरिक्त का प्रतिषेध अन्यों से विशेष रूप से प्रतिषेधपरक ज्ञान की दृष्टि से है।[4] आत्मा से भिन्न ज्ञान का अभाव इस प्रतिषेध को उचित ठहराता है और उसी को सापेक्षता की दृष्टि से आत्मा ज्ञानमात्र है। इसके लिए न्याय दर्शन की उस मान्यता को सामने रखा गया है कि अन्यों के व्यावर्त्तन के अभिप्राय से विशेष प्रतिषेध ग्राह्य है।[5] आत्मा ज्ञानमात्र है इस प्रसंग में न्याय दर्शन की उस मान्यता को सामने रखा गया है जिसके अनुसार अन्यों के व्यावर्तन से विशेष प्रतिषेध ग्राह्य होता है।

---

1. पृ० 1, सृष्टि प्रलययोः सर्वजनसिद्धत्वादिति सकर्तृकं-जगदिति।
2. देखिए, पृ० 4 पंक्ति 1
3. देखिए, पृ० 4।
4. देखिए, पृ० 5।
5. वही।

किसी भी प्रकार के भेद का अभाव आत्मा में मानने के कारण उसे एक साथ ज्ञेय ज्ञाता आदि की उपपन्नता का अनौचित्य 'सत्य' और 'अनन्त' शब्दों के साथ ज्ञान शब्द का प्रयोग 'ज्ञान ब्रह्म है'— इस स्वरूप के प्रतिपादन के लिए है। श्रुति-सम्मत ज्ञानब्रह्म है।[1] यह मन्तव्य कर्तृत्वादि के कारक की मृत्तिकादि के समान अचिद्रूप की निवृति के उद्देश्य से है।[2] लौकिक ज्ञान की निवृति के अभिप्राय से तथा अन्त के भाव के प्रतिषेध की दृष्टि से यह ज्ञान अनन्त है।[3] ब्रह्म शब्द में बृह धातु वृद्धि के अर्थ में तथा महत् के अर्थ में है। संकुचित होने वाली किसी अन्य वस्तु से भिन्न निरतिशय महत् होने के कारण, देश काल वस्तु से अनवच्छिन्न होने के कारण ब्रह्म कहलाता है।[4] स्वात्म ऐकमात्र विषय वाले संवेदन को प्रकाशित करने के कारण ब्रह्म के साथ ज्ञान शब्द का व्यवहार होता है। ब्रह्म के साथ अनन्त शब्द का प्रयोग व्यापकता के अभिप्राय से है इस तरह 'सिद्धांतचन्द्रिका' के अनुसार ब्रह्म सत् है।[5] सूर्य तथा अग्नि के प्रकाश तथा उष्णता के स्वरूप के समान 'ज्ञान' ब्रह्म का स्वरूप है। ज्ञान नित्य है इसलिए दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता।[6]

अन्य चेतन पदार्थ देश, काल, वस्तु से अवच्छिन्न होते हैं जबकि देश-काल वस्तु का कारणभूत ब्रह्म सूक्ष्म है और इसीलिए देश-कालादि से अबाधित है।[7]

ब्रह्म से भिन्न का अभाव श्रुति-सम्मत मन्तव्य भी इसी बात के परिचायक हैं कि सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म है। स्वयं प्रकाशमान ब्रह्म ही परमपद है। सिद्धांतचन्द्रिका यह स्पष्ट घोषणा करती है कि ब्रह्म से अतिरिक्त कोई भी जगत् का कारण उसी प्रकार से नहीं हो सकता।[8] जिस प्रकार सामंतादि की नियुक्ति अथवा अनियुक्ति की सामर्थ्य मात्र राजा में होती है उसी प्रकार जगत् को करने न करने या अन्यथा करने की शक्ति ब्रह्म में ही सम्भव है। इस तरह सिद्धांतचन्द्रिका में जगत् का कारण ब्रह्म स्थापित किया गया है। मन्द बुद्धि वालों की आस्था इस सिद्धांत के प्रति उत्पन्न करने के लिए ही अन्य कारणों का निराकरण उचित है। यह सिद्धांत श्रुति बल से परिपुष्ट हुआ है।[9]

---

1. तीर्थान्तरकल्पितकारणानां यावन्निरासो न पायतेतावान्मद मतीन नागार्थे विश्वासो जायते इत्याशयेनोत्तर ग्रन्थावतारः।
2. पृ० 1, तस्माज्जगतः कारणत्वयोस्ती तासिद्धद्।
3. पृ० 3, सद् ब्रह्मव्यवस्थापयतीति।
4. पृ० 3, पदत्रयेण सर्वज्ञब्रह्मेहि सिद्धधर-सिद्धं सत्य ज्ञानमवन्त ब्रह्ममेति।
5. पृ० 4, सन्मात्र ब्रह्मतावत्कारणदिति।
6. पृ० 6, इति कारणं सत्यसमीक्ष्तां सद्रूपमनुम-पतामति।
7. पृ० 7, सत्कारणमस्ति इति।
8. पृ० 10, इति चेतनं ब्रह्म जगतः कारणम्।
9. पृ० 10, तस्यापि स्वतंत्र प्रधनकारण त्वेवैतः समान केवतं तु तैरूपाक्ष्यतयेश्वरः स्वरूपप्राप्तिः सापानोपायतयायोगश्चाभ्बीकृतो न पुनर्मागरत्कारणत्वपेनेशभ् इत्यस्तु सेश्वरवादित्क।

ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य को कारण मानने पर अनवस्था दोष आ जाता है। यूँ देखा जाये तो **ब्रह्म** से भिन्न को कारण मानने पर भी सत्कारणवाद उचित सिद्ध होता है। घटशराव का भेद कुम्हार की दृष्टि में मृत्तिका मात्र है वैसे ही नामरूप जगत् वस्तुतः सन्मात्र ब्रह्म है।[1]

आत्मा सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है वह क्षुधादि सांसारिक धर्मों से रहित नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-अज-अमर और अभय है।[2] फेन, बुद्बुदादि जैसे एकमात्र सलिल है उसी तरह उत्पत्ति से पूर्व जगत् सन्मात्र होता है। जगत् का कारण ब्रह्म सन्मात्र है इसलिए जगत् भी सन्मात्र है। इस प्रसङ्ग में बौद्धों का शून्यवाद चर्चित हुआ है। सिद्धांतचंद्रिका में असत्कारणवाद का खण्डन हुआ है और सत्कारणवाद का प्रतिपादन हुआ है।[3] जगत् की अभाव की उत्पत्ति की सम्भावना परिहृत हुई है अभाव से भावोत्पत्ति अनुपपन्न हुई है इस तरह से कारण सद्रूप ही है।

नामरूप क्रिया से युक्त व्यक्त जगत् उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म ही असत् शब्द से वात्य है। इस तरह सिद्धान्तचंद्रिका जगत् के कर्तृत्व के अभाव को अमान्य ठहराती है और जगत् के कर्तृत्व के सिद्धांत की स्थापना करती है[4], अचेतन का कर्तृत्व अनुचित दिखलाकर सत् शब्द से वाच्य चेतन कर्तृत्व का प्रतिपादन करती है[5], त्रिगुणात्मक अचेतन प्रधान की जगत् कारणवत्ता की सांख्यवादी कल्पना को हेय सिद्ध करती है और प्रधानवाद के समर्थन में दिये गये श्रुति वचनों का अनौचित्य दिखलाती है इस तरह यह ग्रन्थ ब्रह्म को ही जगत् का कारण सिद्ध करती है।[6]

सांख्य के समान ही स्वतन्त्र **प्रधान** की कारणवत्ता स्वीकार करने वाले योगमत का भी निराकरण सिद्धांतचंद्रिका में हुआ है।[7] योग मत का उपास्य ईश्वर तथा ईश्वर की प्राप्ति में साधनरूप योग को इस ग्रन्थ में मान्यता दी गई है।[8]

सेश्वरवादी योग की उपकारिता ईश्वर की प्राप्ति की दृष्टि से मान्य है जगत् के कारण रूप से मान्य नहीं है क्योंकि कारण रूप में तो वह प्रकृति को मान्यता देते हैं।

---

1. पृ० 17-30 दोषग्रसतोऽय परमाणवाह्याः इति।
2. पृ० 21-24, सहित्यं सत्क्षरणं चेतनचिति ज्ञानेन चेतनत्वमस्य सिद्धं कारणास्य चेतन व चिति।
3. पृ० 28, बहुविषतवेनास्यास्यसर्वसामान्य निमित्तोपादानोमदरूप्रत्वं ब्रह्मणं एवेति।
4. पृ० 29-31, नाक्षरग्रहण मात्रेणेनिहासपुराणादि वेदतरय्सयनम् दिनु सम्यङ्गिपमपूर्व गरु मुखादेववेदाप्ययव कर्तव्यचिति।
5. पृ० 35, तसमात्र वेहान्तानां ब्रह्मोपासनया मुक्तिरिति किंतु तत्त्वज्ञानादेव तथा च तत्त्वज्ञानमेय मुक्ति कारणं न भर्येति।
6. पृ० 37-38, नानात्वेति न स्रष्टुरनेकत्वं नवनवत्वुनिति तस्मात् प्रतिकत्यं नवनदोल्लास कारित्वेपि न तस्य कथंचनाप्येकत्वाद्हानिरिति प्रत्युत तत्त्वतो विरोधाभावेः लोल्लास कारित्वमेवदैश्वर्य प्रख्यापयति।
7. देखिए, पृ० 17
8. देखिए, पृ० 19

सिद्धान्तचंद्रिका में नैयायिकों के उस परमाणुवाद का निराकरण किया है जिसके अनुसार जगत् का अपादान कारण परमाणु है और निमित्त कारण ईश्वर है। ग्रन्थ में चेतन ब्रह्म ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण सिद्ध हुआ है[1], जगत् नित्यत्वाद का खण्डन हुआ है इस प्रसङ्ग में परमाणुवादियों की अणु, द्वयणुक, त्र्यणुक आदि की सारी प्रक्रिया का विवेचन हुआ है।[2]

इस ग्रन्थ में नैयायिकों के परमाणुओं की नित्यता, अदृष्टादि की सापेक्षता में महेश्वर की इच्छा के सिद्धांत की सविस्तार चर्चा हुई है।[3] जगत् की उत्पत्ति में परमाणु समवायिकारण, अदृष्ट की अपेक्षा से आत्मा और परमाणु का संयोग असमवायि अदृष्ट का निमित्तकारणत्व का उल्लेख करते हुए सृष्टि की प्रक्रिया और नाश की प्रक्रिया को दिखाया निमित्तकारणत्व का उल्लेख करते हुए सृष्टि की प्रक्रिया और नाश की प्रक्रिया को दिखाया है। समवायि कारण के नाश से कार्य नाश होता है इसके पश्चात् सिद्धांतचंद्रिका में वैशेषिकों की सृष्टि प्रक्रिया का उल्लेख हुआ है[4], जिसके अनुसार संयोग की कर्मवत्ता है। कर्म द्वारा अणु-संयोग से द्वयणुक को भीतर समेट कर त्रयणुकादि के क्रम से महाभूति पर्यन्त सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सिद्धान्तचंद्रिका में सविस्तार वैशेषिकों के अणुकारणतावाद तथा उनकी प्रक्रिया को अनुपपन्न सिद्ध किया है और यह घोषणा की है कि सत्कारण चेतन है और अनेक कर्तृत्व के स्थान पर एक कर्तृत्व उपयुक्त है। कारण ब्रह्म में नानत्व का निषेध उचित है इस प्रसङ्ग में होने वाले सभी आक्षेपों का परिहार सिद्धान्तचन्द्रिका में मिलता है।[5]

ज्ञान शब्द चेतना का द्योतक है। सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म जगत् का कारण है।[6] ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमितोपादान कारण है इस प्रसङ्ग में संभावित सभी आक्षेपों का परिहार ग्रन्थ में हुआ है।[7] भिन्ननिमित्त और उपादान मानने वाले परम आस्तिक नैयायिक, सेश्वर सांख्यवाद मीमांसा आदि के मतों का खंडन इस ग्रन्थ में हुआ है। कार्य और कारण की योगविधि मानने वाले पाशुपतों का उल्लेख भी हुआ है जिनके अनुसार पाँच पदार्थ दुःखान्त हैं। पशुपति ईश्वरभाव से न होकर पशु-पाश में मुक्ति कराने के अभिप्राय से है। पशुपति ईश्वर निमित्तकारण है। दुःख का अन्त मोक्ष है।[8]

---

1. देखिए, पृ० 21
2. देखिए, पृ० 21
3. देखिए, पृ० 32
4. देखिए, पृ० 34
5. देखिए, पृ० 49-50
6. देखिए, पृ० 49-50
7. देखिए, पृ० 50
8. देखिए, पृ० 53

सिद्धान्तचंद्रिका में विस्थापित किया गया है कि पाँच रात्र की कल्पना श्रुति से बाह्य है और अनुचित है।[1] प्रकृति के अधिष्ठाता के भाव से ईश्वर उभयात्मक है। इस ग्रन्थ में इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है कि निरवयव ब्रह्म का बहुत्व उत्पन्न है। सिद्धान्तचन्द्रिका में दृष्टान्त और श्रुतिबल से ब्रह्म की उपादानता का प्रतिपादन हुआ है और श्रुति सम्मत वाक्यों से ब्रह्म को निमित्त कारण भी सिद्ध किया गया है।[2] जगत् की रचना से पूर्व अद्वितीय के श्रवण से ब्रह्म की निमितकारणता में साधारण कुलालादि के समान सहकारी कारणसमूह अपेक्षित नहीं होते।

सर्वशक्तिमान् होने से विचित्र कार्य की रचना के नैपुण्य में अकेला ही स्वरूपबल से ब्रह्म जगत् का उपादान कारण उपपन्न होता है। स्वेच्छापूर्ण रचना के कारण ब्रह्म स्वयं कर्त्ता होता है। सृष्टि से पहले जगत् अनादि होता है इसलिए कर्म की अपेक्षा नहीं रहती सृष्टि के बाद सादित्य तथा कर्मसापेक्षत्व होता है सिद्धान्तचन्द्रिका में अनेक श्रुतिवचनों के उदाहरण से ब्रह्म के एकत्वस्वरूप का प्रतिपादन हुआ है।[3]

अर्थवादों का सविस्तार विवेचन इसमें हुआ है। शब्द जिस के अर्थवाला होता है वही शब्द का तात्पर्य अर्थ होता है इस न्याय से वेदान्त सिद्ध ब्रह्म में तात्पर्य दिखलाया है प्रत्यग् ब्रह्म वेदान्त शास्त्रों का प्रतिपाद्य है वेदान्त शास्त्रों के ब्रह्म की उपासना से मुक्ति लाभ नहीं होता प्रत्युत् तत्त्वज्ञान होता है ओर तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति मिलती है। आत्मज्ञान कर्म का फल नहीं है इसलिए वह सामान्य क्रिया के फल के समान अनित्य नहीं है इसलिए उस का फल मोक्ष भी अनित्य नहीं है।[4]

ब्रह्म तो स्वात्मस्वरूप है इसीलिए अनादि है और सर्वगत रूप होने से नित्य है। इस प्रसङ्ग में सम्भावित आक्षेपों का निराकरण किया गया है और एक ब्रह्म की जगत्कारणता को श्रुतिसिद्ध घोषित किया गया है। वेदान्तशास्त्र तीनों से अबाधित और तत्त्वावेदक प्रमाण है। सिद्धान्तचन्द्रिका का प्रतिपाद्य है कि श्रुति प्रामाण्य और युक्ति प्रामाण्य से एक ही कारण है यद्यपि एक के द्वारा रची हुई इस सृष्टि में नानात्व देखने को मिलता है ब्रह्म से नये-नये उल्लासरूप ऐश्वर्य के होने पर भी उसके एकत्व की हानि नहीं होती क्योंकि नव नव उल्लास उसके ऐश्वर्य के द्योतक हैं।

इस प्रकार वसुगुप्त की सिद्धान्तचन्द्रिका का सर्ववादी मत का निराकरण करने वाली कृति है।[5]

---

1. देखिए, पृ० 53
2. देखिए, पृ० 56
3. देखिए, पृ० 60
4. देखिए, पृ० 64-69
5. देखिए, पृ० 34, इति सर्ववादीमत निरासिका वसुगुप्तकृत सिद्धांतचंद्रिका

वास्तुशास्त्रीय पुरनिवेश

प्रो० केदार नाथ शर्मा
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

प्राचीन भारतीय वास्तुशास्त्रीय भारतीयों के नगर-योजना एवं निर्माण-सम्बन्धी कौशल एक सुन्दर निदर्शन है।

वैदिक युगीन भारतीयों का निवास-स्थल यद्यपि धर्म-सम्मत होते थे, परन्तु उनमें सादगी और सौम्यता थी। उनके निर्माण-सम्बन्धी समस्त वैभव वैसे तो उनके द्वारा बनाए गए मन्दिरों की भव्यता में चरितार्थ दिखलाई पड़ता है परन्तु कालक्रम के अनुसार जब उनका जीवन भौतिकता की ओर बढ़ता गया तो उन्होंने अपने निवास-स्थानों को भी वैभव-सम्पन्न बनाना प्रारम्भ किया। प्रथमतः यह प्रक्रिया राजाओं और राजपुरुषों के भवनों में हुई, फिर अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार साधारण जनों ने भी अपने निवासार्थ एवं व्यवसाय हेतु छोटे-बड़े भवनों का निर्माण करवाना प्रारम्भ किया। सिन्धु-घाटी की सभ्यता और हड़प्पा मोहनजोदड़ो (3000-3500 ई.पू.) के प्राचीन भवन, आगार, तरणताल और प्रासाद के खण्डहरों को देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि सभ्यता के प्रथम चरण में ही यहाँ के शिल्पी-विद्वानों ने वास्तुशास्त्र में सर्वांगीण सफलता अर्जित कर ली थी। उस युग में वास्तु का अर्थ होता था-एक ऐसा गृह या भवन जो इसमें रहने वाले को सुख, आराम, सुरक्षा, सम्पन्नता, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सभी शाखाओं का रसास्वादन करवाये।

प्राचीन वास्तुशास्त्रकारों ने नगर, ग्रामादि के निवेश के लिए जिन आवश्यक बातों को रेखाङ्कित किया है, उनमें ये प्रमुख हैं-

1. भूमिचयन
2. वास्तुपदविन्यास
3. शिलान्यास
4. जातिवर्णाधिवास
5. मार्ग-योजना
6. सुरक्षोपाय
7. देवतुल्यीकरण एवं सौन्दर्यीकरण

7.1 भूमिचयन - किसी भी नगर, ग्राम तथा अन्य सामूहिक निवास-स्थलों के निवेश के लिए प्राथमिक आवश्यकता स्थान, उसके आस-पास का वातावरण, जलवायु एवं उपयुक्त भूमि आदि की है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि नगरादि के निर्माण के लिए प्रथम अनिवार्य तत्त्व देश / भूमि

है, परन्तु सभी भूमियाँ एक जैसी नहीं होती। रचना या निवास की दृष्टि से कुछ भूमियाँ अपने गुण-वैशिष्ट्य के कारण प्रशस्य हैं तो कुछ अप्रशस्य हैं।

त्रिविध-देश–प्राचीन वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में नगरादि बसाने के लिए प्रशस्ताप्रशस्त भूमियों के अनेक लक्षण उपलब्ध होते हैं। समराङ्गणसूत्रधार के लेखक राजा भोज ने इन भूमियों को उनके स्थानीय गुण-दोषों के आधार पर स्थूल रूप से तीन वर्गों में[1] वर्गीकृत किया गया है– 1. **जाङ्गल-देश**, 2. **अनूप-देश** और 3. **साधारण-देश**।

पानी की दुर्लभता, रेत या कङ्कड़ की बहुतायता, कंटीले छोटे वृक्ष, वायु की रुक्षता एवं गर्मी आदि विशेषताओं से युक्त जाङ्गल देश[2] निश्चित ही प्रशस्य देश नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत जल की सहज उपलब्धता, स्निग्धता, शीतलता आदि गुणों एवं माँस, मच्छली आदि से परिपूर्ण, नदियों एवं सुन्दर चिकने वृक्षों से युक्त भूमि, जिसे अनूप-देश कहा गया है[3], अपनी प्राकृतिक विशेषताओं के कारण सरल जीवन-यापन के साधन रूप कृषि आदि के लिए उपयुक्त भूमि वाला देश निश्चय ही निवास-हेतु प्रशस्य है। इसी प्रकार जाङ्गल एवं अनूप-देश के मिश्र-लक्षणों से युक्त, समशीतोष्ण देश भी, जिसे वास्तु-विदों ने साधारण-देश कहा है[4], निवासादि के लिए प्रशस्य देश कहा जा सकता है। इन तीनों प्रकार की भूमियों में अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण भूमि के अन्य विविध भेद होते थे, जिन्हें धाराधिपति भोज ने सोलह प्रकार का माना है।[5]

7.1.1 पुरनिवेश-हेतु प्रशस्त भूमि – वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में जनपद, खेट, ग्राम तथा पुरादि के सन्निवेश के लिए भूमि की जिन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है उनसे आधुनिक पुरादि की योजना एवं भवनादि के निर्माण के लिए भूमि-चयन सम्बन्धी एक बहूपयोगी दिशा-निर्देश प्राप्त होता है। वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में भूमि की जिन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है, उनमें से कतिपय निम्नलिखित हैं –

क) जिस भूमि पर सोना, चाँदी आदि खनिज पदार्थों की प्राप्ति सदैव होती हो।[6]

ख) जो भूमियाँ विविध प्रकार के कुञ्जों, गुल्मों, लताओं एवं वृक्षों से युक्त हों।[7]

---

1. देशः स्याज्जाङ्गलानूपसाधारणतया त्रिधा। - स.सू. (शुक्ल-सम्पादित),अ. 10, 2
2. दूराम्बुरिरिणप्रायो ह्रस्वकण्टकिपादपः।
रुक्षोष्णचण्डपवनः कृष्णमृत् तेषु जाङ्गलः।। - वही,अ. 10, 3
3. निम्नो भूरिजलः स्निग्धो बहुमत्स्यामिषो हिमः।
स्यादनूपः सरित्प्रायः स्निग्धोच्छ्रितबहुद्रुमः।। - वही, अ. 10, 4
4. यः पुनर्नातिशीतोष्णः स्याद् देशद्वयलक्षणः।
स साधारण इत्युक्तो देशो देशविशारदैः।। - वही, अ. 10,5
5. 1. बालिश-स्वामिनी, 2. भोग्या, 3. सीतागोचर-रक्षिणी, 4. अपाश्रयवती, 5. कान्ता, 6. खनिमती, 7. आत्म-धारिणी, 8. वणिक्-प्रसाधिता, 9. द्रव्यवती, 10. अमित्र-घातिनी, 11. आश्रेणी-पुरुषा, 12. शक्य-सामन्ता, 13. देव-मातृका, 14. धान्य-शालिनी, 15. हस्तिवनोपेता एवं 16. खुरक्षा।
6. क) यस्यां सदैव जायन्ते कलधौतादि धातवः। - स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 10, 15
ख) ''धातुस्यन्दोल्लसत्'' - वही, अ. 10, 27
7. क) ''कुञ्जगुल्मद्रुमलतावृतैः'' - वही, अ. 10, 27
ख) ''तरुच्छन्नाः........'' - वही, अ. 10, 40

ग) जो भूमियाँ बड़ी-बड़ी शिलाओं वाले पर्वतों के द्वारा चारों ओर से घिरी हुई हों।[1]

घ) जहाँ पर मधुर जल वाली नदियों की अधिकता हो और दक्षिण की ओर स्निग्ध, सारयुक्त एवं शुद्ध जल वाले जलाशय हों।[2]

ङ) जिन भूमियों के वनों में कोकिलाएँ मधुर आलाप एवं भौंरे गुञ्जार कर रहे हों और विभिन्न प्रकार के फल-पुष्पों की उपलब्धता हो।[3]

च) जिन भूमियों की क्षेत्र सीमाएँ विभक्त तथा चारागाहों से सुशोभित हों।[4]

छ) जिन भूमियों का झुकाव पूर्व की ओर हो।[5]

ज) जहाँ पर दूब, औषधियों, मूँज, करुन्द, कुश एवं वल्कल आदि की अधिकता हो।[6]

झ) जो भय एवं व्याकूलता से रहित तथा मनोहर हों।[7]

ञ) जिन स्थानों में शिल्प, यज्ञ, प्रासाद, आराम, उद्यान आदि की सामग्री उपलब्ध होती हों[8] तथा जल-सङ्ग्रह के साधनरूप वापी, तड़ाग आदि के निर्माणार्थ उपयुक्त स्थान हो।[9]

ऊपर नगरादि के सन्निवेश के लिए प्रशस्य भूमि के सम्बन्ध में जिन विशेषताओं का वर्णन हुआ है उससे स्पष्ट है कि हमारे पूर्वज प्रकृति के सुन्दर, निश्छल, अकृत्रिम वातावरण में जीवन-निर्वाह के आग्रही थे। वनस्पति के साथ उनका मित्रभाव था। यद्यपि उनके जीवन की बहुत सारी आवश्यकताएँ -- स्वच्छ प्राणवायु से लेकर निर्माण-सामग्री एवं इन्धन आदि की आपूर्ति के रूप में वनस्पति का सन्तुलित उपयोग तो होता था परन्तु उसका अनियन्त्रित विनाश, जैसा कि आज हो रहा है, नहीं होता था।

प्राणधारण के अपरिहार्य अन्य तत्त्व जल की महत्ता से भारतीय जन प्राचीनकाल से ही सुपरिचित थे। स्थान-स्थान पर जलाशयों की आवश्यकताओं का वर्णन, सरिताओं की आराधना हमारे पूर्वजों के जल की महत्ता-विषयक ज्ञान का परिचायक है। सरित्प्रान्त, सरोवर-तट उनके धर्म, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन तथा कला-विषयक परिचर्चा के स्थल होते थे। सम्भवतः यही कारण है कि भारत के प्राचीन नगर -- मथुरा, प्रयाग, बनारस आदि सरिताओं के तट पर अवस्थित हैं।

---

1. उत्सङ्गताः पृथुशिलैः समन्तादवनीधरैः। - वही, अ. 10, 27
2. क) ''स्वादुतोयाभिरावृताः'' - वही, अ. 10, 28
   ख) ''स्वादुस्वच्छस्थिरोदकाः'' - वही, अ. 10, 41
   ग) स्निग्धाः सारभृतः शुद्धाः प्रदक्षिणजलाशयाः। - वही, अ. 10, 40
3. कोकिलालापसुभगैर्मधुमत्तालिशालिभिः।
   विचित्रफलपुष्पाद्यैः काननैरुपशोभिताः॥ - वही, अ. 10, 29
4. विभक्तक्षेत्रसीमान्तैर्गोचरैरुपशोभिताः। - वही, अ. 10, 32
5. ''प्रागुदक्प्लवाः'' - वही, अ. 10, 40
6. दूर्वासस्यौषधीमुञ्जकुरुन्दकुशवल्कलैः। - वही, अ. 10, 41
7. संरम्भत्रासनिर्मुक्तं मनश्च रमयन्ति याः। - वही, अ. 10, 34
8. वास्तुयज्ञामरस्थानाद्यारामोद्यानसंभृताः। - वही, अ. 10, 42
9. तटाकवापीस्थानैश्च याः समन्तादलङ्कृताः।

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में गन्ध[1], वर्ण[2], स्पर्श[3], रस[4], शब्द [5], प्लव[6] तथा बीजाङ्कुरण[7] की अनुकूलता के आधार पर भूमि के जो भेदोपभेद किये गये हैं वे प्राचीन भारतीयों के गूढ़ भूगर्भिक ज्ञान की सूचना तो देते ही हैं साथ ही हमें भवनादि के निर्माण के लिए विविध दृष्टि से भूमि-चयन की उपयोगिता को भी रेखाङ्कित करते हैं।

7.1.2 मृत्तिका-परीक्षा – वास्तुशास्त्र का मृत्तिका-परीक्षण का प्रकरण तो प्राचीन भारतीयों के भू-पारिस्थितिकी ज्ञान का अनूठा निदर्शन है। सरल से सरलतम विधि से मृत्तिका-परीक्षण की क्रिया-द्वारा भवनादि के लिए उपयुक्त-अनुपयुक्त भूमि के निर्धारण की प्रक्रिया आधुनिकतम व्ययसाध्य यन्त्रों का उपयोग करने वाले भूगर्भ-शास्त्रियों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकती है। मृत्तिका-परीक्षण के द्वारा सम्भवतः इस बात का पता लगाया जाता था कि निर्माण-स्थल ठोस है या नहीं, क्योंकि भवनों की ऊँचाई तथा आकार की विशालता आदि का सारा भार नींव पर और नींव भूमि की दृढ़ता आदि गुणों पर निर्भर करती है। नींव का निर्माण करते समय भूमि की विभिन्न अवस्थाएँ (पाषाणमय, सिकतामय एवं सार्द्र) नींव की गहराई

1. क) स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 10, 44-47
   ख) मधुगन्धा पुष्पगन्धा सर्पिगन्धा च भूरपि।
   स्थिरवर्णा च भूश्शास्ता सर्ववास्तुषु कीर्तिता।। - वि.वा., अ. 5, 21
   ग) अ.पृ.,अ. 51, 51 घ) मयमत, अ. 3, 10
2. क) स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 10, 48 ख) वि.वा., अ. 5, 8-13
   ग) अ.पृ.,अ. 51,50 घ) शि.र.,अ. 3, पृ. 10
   ङ) मयमत, अ. 2, पृ. 8 च) वा.व., अ. 1, 13
3. क) घर्मागमे हिमस्पर्शा या स्यादुष्णा हिमागमे।
   प्रावृष्युष्णहिमस्पर्शा सा प्रशस्ता वसुन्धरा।। - स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 10, 49
   ख) शि.र., अ. 3, पृ. 8
4. क) स्वादुः कषाया तिक्ता च कटुका चेत्यनुक्रमात्।
   वर्णानां स्वादतः शस्ता सर्वेषां मधुराथवा।। - स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 10, 49
   ख) वि.वा.,अ. 5, 8-12
   ग) अ. 51, 52 घ) शि.र.,अ. 3, पृ. 10
   ङ) तिक्ता च कटुका चैव कषायलवणाम्लका।।
   मधुरा षड्रसोपेता सर्वसम्पत्करी धरा। - मयमत, अ. 3, पृ0 10
5. क) मृदङ्गवल्लकीवेणुदुन्दुभीनां समा ध्वनौ।
   द्विपाश्वाब्धिसमस्वाना चेति स्युर्भूमयः शुभाः।। स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 10, 51
   ख) तुरङ्ग द्विरदं(द) वेणुं (णु) वीणासाक (ग) रदुन्दुभिः। - मानसार, अ. 4,2
   ग) हयेभवेणुवीणाब्धिदुन्दुभिध्वनिसंयुता। - मयमत, अ. 3, पृ. 10
6. क) मयमत,अ. 2, पृ. 8;
   ख) वि.वा., अ. 5
   ग) भूमेः प्रक्प्लवनं च शङ्करककुब् सौम्याश्रितं सौख्यकृत्।
   ....
   विप्रादेरनुवर्णतश्च सुखदं सृष्टेः कमात्सौम्यतः।। - वा.व., अ. 1, 17
   घ) बृ.सं., अ. 53
7. सा भूमिरुत्तमा ज्ञेया त्रिरात्राङ्कुरवर्धिनी। सा मधयमा च विज्ञेया पञ्चरात्राङ्कुरप्रदा।।
   मन्दाङ्कुरप्रदा भूमिरधमा चेति गद्यते। सा वर्ज्या सर्वकार्येषु बीजानां क्षयकारिणी।। -वि.वा.,अ. 5,21-22

आदि में विशिष्ट भूमिका का निर्वहन करती हैं। इस दृष्टि से प्राचीन मृत्तिका-परीक्षण-विधि[1] - द्वारा आधार-भूमि की दृढ़ता एवं अदृढ़ता आदि के ज्ञान से निश्चय ही तथाकथित आज के उच्च शिक्षित अभियन्ताओं (Engineers) द्वारा निर्मित भवन, सेतु, सुरङ्गमार्ग आदि के असमय ध्वंस से बचने के लिए कुछ व्यवहारपोपयोगी शिक्षा मिल सकेगी।

7.2 वास्तुपद-विन्यास (Site - Plan) - भवनादि के निर्माण से पूर्व आज के समय में जिस प्रकार किसी अभियन्ता (Engineer) या स्थापत्यविद् (Architect) से भवन का बाह्य या आन्तरिक रेखाचित्र या प्रारूप बनवाया जाता है उसी को प्राचीन भारत में वास्तुपद-विन्यास या वास्तुपुरुष-कल्पना कहा गया है। इसमें भवनादि के विभिन्न भागों --देवता-वेश्म या पूजा-कक्ष, पाक-कक्ष, भोजन-कक्ष, शयन-कक्ष, स्नानागार, कोष्ठागार, अध्ययन-कक्ष, अतिथि-कक्ष आदि के निर्माण के लिए भूमि का विभाजन किया जाता है। वास्तुपद-विन्यास प्राचीन भारतीय स्थापत्य-विज्ञान के आठ अङ्गों[2] में से प्रथम अङ्ग है। यह वास्तुपद-विन्यास आधुनिक भवन-रेखाचित्र (House-Plan) अथवा पुर-रेखाचित्र (Town-Plan) के सदृश प्राचीन स्थपतियों के लिए निवेश-योजना में अत्यन्त सहायक होता था। उदाहरण-स्वरूप किसी भी वास्तुपद-विन्यास-पद्धति में केन्द्र-स्थान का अधिष्ठातृ देव ब्रह्मा होता है, अतः उसे ब्रह्मपद के संज्ञा दी जाती है। यदि शास्त्र का निर्देश ऐसा हो कि ब्राह्म-पद पर भवन के अमुक अङ्ग अथवा पुराङ्ग का निवेश करना चाहिए तो अमुक पद वाले निवेश्य भूमि में चतुष्पदिक[3], नवपदिक[4] अथवा षोडशपदिक[5] ब्रह्मपद का निर्माण अभीष्ट है। इसी प्रकार सम्पूर्ण पद-विन्यास में अपने-अपने पदों के स्वामी देवों के सङ्केत से ये समस्त पद-व्यवस्था सहज बोधगम्य हो जाती है और भूमि के चारों प्रमुख दिशाओं एवं उपदिशाओं तथा केन्द्र या मध्यभाग में कहाँ पर किसका और कैसा निवेश करना चाहिए, यह सब बहुत ही सरल बन जाता है। समराङ्गणसूत्रधार के अनुसार व्यवहार के लिए नगर, भवन तथा प्रासाद-निवेश में प्रयोज्य वास्तुपद, उनमें एकाशीति-पद-वास्तु (इक्यासी पद वाला), चतुष्षष्टि-पद-वास्तु (चौसठ पद वाला) तथा शतपद-वास्तु (सौ पद वाला) ये तीन ही विशेष उल्लेख्य हैं।[6] इसके अतिरिक्त इसी ग्रन्थ में षोडश-पद-वास्तु आदि दशाधिक अन्य वास्तुपद का भी उल्लेख मिलता है।[7]

---

1. मृत्तिका-परीक्षा-सम्बन्धी विवेचन के लिए देखिए -- स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 10, 67-69; ,अ. पृ., अ. 51, 7-8; मानसार, अ. 5, 17-18; मयमत,अ. 4, 10-11; 17-18; वा.व.,अ. 1, 16; मा.उ., अ. 1, 15-16; म.पु. ,अ. 253, 16-17; बृ.सं., अ. 56, 92; वा.र., पृ. 13
2. प्राचीन स्थापत्य-विज्ञान के आठ आवश्यक अङ्ग -
   1) वास्तुपुरुष-कल्पना, 2) पुरनिवेश तथा द्वारकर्म, 3) प्रासाद-निर्माण (Tempale-Architecture), 4) इन्द्रध्वजोत्थान, 5) राजवेश्म तथा राजोचित अन्य निवेश (क्रीडास्थान, दूतावास, सभा, अश्व-गजादिशाला), 6) चातुर्वर्ण्य-विभाग (Civil-Architecture), 7) यज्ञशाला, यजमानशाला एवं यज्ञविधि, 8) राजशिविर-निवेश एवं दुर्ग-रचना। - स. सू. (शुक्ल-सम्पादित), अष्टाङ्गलक्षण नामक अ. 9, 2-6
3. स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), वास्तुत्रय-विभाग, अ. 14, 22
4. वही, अ. 14, 1
5. वही, अ. 14, 16
6. एकाशीतिपदो यः स्यात् तथा शतपदश्च यः।
   चतुःषष्टिपदो यश्च वास्तुरत्र त्रिधोदितः।। - वही, अ. 16,1
7. वही, नाड्यादि-सिरादि-विकल्पन, अ. 15 (वास्तुपद-विन्यास के लिए द्रष्टव्य हैं - अपराजितपृच्छा, अ. 57; मानसार, अ. 7, 1-25; मयमत, अ. 7, 1-21; शिलपरत्न, अ. 6, 1-23

वास्तुशास्त्र का वास्तुपद-विन्यास प्रकरण भवन आदि के निर्माण की ऐसी उन्नत अवस्था का द्योतक है जो रहने वाले की सम्पूर्ण सुख-सुविधाओं को प्रकट करता है। इसमें क्रमश: निवेश्य भूमि का विभिन्न वर्गाकार-रूप में विभाजन, विभाजित वर्गों में भावित देवों की प्रकल्पना, वास्तुपुरुष की प्रतिष्ठा एवं उसी के आधार पर विभिन्न दिशाओं-उपदिशाओं में नगर, ग्राम, राजप्रासाद, गृह, मन्दिर आदि के विविध रचनाङ्गों का निर्माण किया जाता था।[1] यह वास्तुपद-विन्यास आज भी भवन आदि निर्माण से पूर्व नक्शा-निर्माण के समय अवधारणीय महत्त्वपूर्ण बातों के लिए हमें सावधान करता है।

7.3 शिलान्यास - आजकल नगर, भवन, मन्दिर तथा पुल आदि के निर्माण से पूर्व शिलान्यास करने की विधि सर्वप्रसिद्ध है। यद्यपि आज यह एक विशुद्ध कर्मकाण्डीय विधि रह गई है जिसमें पण्डित द्वारा संक्षिप्त पूजा-अर्चना करवा कर मिष्ठान्न बाँटकर अथवा कभी-कभी पशुबलि देकर इति श्री कर ली जाती है लेकिन वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में शुभ-मास, तिथि, नक्षत्र, दिवस, पक्ष, समय, ग्रह आदि का ध्यान रखते हुए[2] शास्त्रज्ञ, पवित्र, प्रसन्नचित्त स्थपति देवार्चन पूर्वक शिलान्यास करता था।[3] शिलान्यास के लिए पवित्र तीर्थ स्थलों से आहृत, मन्त्राभिषिक्त शिला का विधि-पूर्वक न्यास करना चाहिए।[4] शिलान्यास का कर्म आज भले ही संक्षिप्त शिलापूजन से समाप्त कर लिया जाता हो परन्तु समराङ्गणसूत्रधार आदि वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में शिलान्यासकर्त्ता योग्य स्थपति का चयन, पद्म आदि विशिष्ट चिन्हों से चिन्हित शिलाओं के चयन, विविध प्रकार की शिलाओं, शिला-अभिषेक, ब्राह्मण-पूजा, ओङ्कार एवं माङ्गलिक गीत का गायन, वाद्य-वादन, बलि-पूजन आदि विस्तृत प्रक्रिया का विधान है जो भवनादि के निर्माण को भारतीयों की धार्मिक भावना से जोड़ती है, और यह इस बात का सङ्केत है कि शिलान्यास एक औपचारिक कर्मकाण्ड मात्र नहीं है अपितु किसी भी रचना को धर्ममय बनाना है।

7.4 जातिवर्णाधिवास (Folk-Planning) - नगर में ब्राह्मणादि वर्णों एवं विभिन्न व्यवसाय से सम्बद्ध सामान्य जनों की निवेश-व्यवस्था के सम्बन्ध में वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों एवं अन्य संस्कृतग्रन्थों में भिन्न-भिन्न विचार उपलब्ध होते हैं। वास्तुशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ समराङ्गणसूत्रधार में आवासीय भवनों की निवेश-व्यवस्था की दृष्टि से निवेश्य भूमि को आठ खण्डों में बाँटा गया है। इसमें भूमि की दक्षिण-पूर्व दिशा से निवेश-योजना का आरम्भ करते हुए विभिन्न व्यवसाय से सम्बद्ध जनों एवं अधिकारी वर्गों के आवासीय भवनों की स्थापना निम्न प्रकार से करने का निर्देश दिया गया है।

7.4.1 दक्षिण-पूर्व-दिशा - इस दिशा में प्रधानत: अग्नि पर आश्रित जीविका वाले स्वर्णकारों एवं लोहारों के भवनों के विन्यास का निर्देश है।[5] इसके अतिरिक्त चतुरङ्गिणी सेना[6] एवं सैनिक शिविरों

---

1. ऐशान्यां देवतावेश्म तथाग्नेय्यां महानसम्। अग्न्यागारं च तत्रैव भ्रमं नैर्ऋतके तथा।।
   कोष्ठागारायुधागारौ वायव्यां च तथा स्मृतौ। कूपादिस्थोदकं शस्तं दिक्षु चैवोत्तरासु च।।
   - वि.ध.पु., खण्ड 2, अ. 29, 40-41
2. स.सू. (शुक्ल-सम्पादित) अ. 20, शिलान्यास-विधि, 2-4
3. वही, अ. 20, 5
4. वही; अ. 20, 17-24
5. सुवर्णकारानाग्नेय्यां तथा वह्न्युपजीविनः।
   निवेशयेत् कर्मकरानन्यानपि विधानवित्।। - स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 23, 29
6. क) निवेशयेत् तथाग्नेय्यां बलं नानाविधं सुधीः। - वही, अ. 23, 96 ख) ''आग्नेये स्वर्णकर्मारान्पुरस्य विनिवेशयेत्।''
   ''.........................आग्नेये विविधं बलम्।'' - अ.पु., अ. 106, पृ. 320-21

तथा हस्तिशाला, महानस, कोष्ठागार, आयुधागार आदि के लिए यह दिशा शुभ मानी गई है।[1]

7.4.2 दक्षिण - भोज ने वैश्यों, द्यूतक्रीडकों, चक्रिकों, नटों तथा नर्तकों के गृह-निर्माण के लिए दक्षिण-दिशा को शुभ माना है।[2] इसके अतिरिक्त देशमहत्तर, श्मशान-घाट[3], नगराध्यक्ष, धान्याध्यक्ष, व्यापाराध्यक्ष, खदानों एवं कारखानों के निरीक्षक एवं सेनाध्यक्ष के निवास-स्थान तथा माँस-मदिरा की दुकान का इसी दिशा में इष्ट माना गया है।[4] इसी दिशा में क्षत्रियों[5] गणिकाओं[6] के गृह-निवेश को भी कुछ आचार्यों ने उपयुक्त माना है।

7.4.3 दक्षिण-पश्चिम - इस (नैर्ऋतय) दिशा में सुकरोपजीवियों, गड़रियों, बहेलियों, केवटों, दमनाधिकारियों का निवास होना चाहिए, ऐसा भोज का मानना है।[7] कौटिल्य इस दिशा में खर एवं उष्ट्रों के निवास-स्थानों एवं प्रयोगशालाओं[8], संस्थागारों, सोने-चाँदी के रखने के स्थानों[9], के निर्माण का निर्देश देता है। अग्निपुराण में नटों, भाटों, मल्लाहों के निवास के लिए यह दिशा उचित मानी गई है।[10]

7.4.4 पश्चिम - भोज ने रथकारों, शस्त्रनिर्माताओं, कोषाध्यक्षों, महामात्रों आदेशिकों, कालाकारों एवं नियामकों को पश्चिम-दिशा में बसाना उचित माना है।[11] कौटिल्य[12] एवं अग्निपुराणकार[13] ने भी शस्त्रास्त्र-निर्माताओं एवं शिल्पियों के गृहों के लिए यही दिशा उचित मानी है। शिल्परत्नकार[14] ने मांस-विक्रेताओं तथा धोबियों के गृह-निवेश के लिए यह दिशा श्रेयस्कर बताई है।

---

1. पूर्वदक्षिणं भागं महानसं हस्तिशाला कोष्ठागारं च।
   दक्षिणपूर्वं भागं भाण्डागारमक्षपटलं कर्मनिषद्याश्च।
   - अ.शा., अधि. 2, अ. 4
2. वैश्यानामक्षधूर्तानां चक्रिकाणां च दक्षिणे।
   नटानां नर्तकानां च गृहाणि विनिवेशयेत्।। - स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 23, 90
3. श्मशानानि तथा तत्स्थान् याम्यायां स्थपतिः सुधीः। - वही, अ., 23, अ. 23, 102
4. नगरधान्यव्यावहारिककार्मान्तिकबलाध्यक्षाः .....दक्षिणां दिशमधिवसेयुः। -अ.शा., अधि. 2, अ. 4
5. ''क्षत्रियाश्चेव दक्षिणे'', अ. पृ., अ. 72
6. दक्षिणे गणिकावाटम्'' - शि.र., अ. 5, पृ. 23
7. निवेशयेत् सौकरिकान् मे (यी ? षी) कारान् मृगच्छिदः।
   कैवर्तान् नैर्ऋताशायां दमनाधिकृतांस्तथा।। - स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 23, 91
8. पश्चिमदक्षिणं भागं खरोष्ट्रगुप्तिस्थानं कर्मगृहं च। - अ.शा., अधि. 2, अ. 4
9. दक्षिणपश्चिमं भागं कुप्यगृहमायुधागारं च। - वही, अधि. 2, अ. 4
10. ''नटानां चक्रिकादीनां केवर्तादेश्च नैर्ऋते।'' - अ.पु., अ. 106, पृ. 320
11. रथेषु कौशलं येषां येषां स्यादायुधेषु च।
    वारुण्यां दिशि तान् सर्वान् पुरस्य विनिवेशयेत्।।
    कोशपालमहामात्रादेशिकान् कारुकानपि।
    नियामकांश्च कुर्वीत सलिधिपतेर्दिशि।। - स.सू. (शुक्ल-सम्पादित),अ. 23, 92, 97
12. ऊर्णासूत्रवेणुचर्मवर्म......दिशमधिवसेयुः। - अ.शा., अधि. 2, अ.4
13. ''रथानामायुधानां च कृपाणानां च वारुणे।''
    ''पश्चिम च महामात्यान्कोषपालांश्च कारुकान्।'' - अ.पु., अ. 106, पृ. 320-321
14. ''सूनानां पश्चिमे गृहम्''; ''रजकानां तु पश्चिमे'' - शि.र., अ. 5, पृ. 23-24

7.4.5 उत्तर-पश्चिम - विभिन्न वास्तुशास्त्रकारों ने इस दिशा में निम्न व्यवसाय वाले सुराविक्रेताओं, भश्त्यों[1], नायकों, दण्डनाथों[2], यानशालाओं, रथशालाओं, औषधालयों[3], मच्छुवारों एवं कारीगरों[4] के गृह-निर्माण का विधान इस (वायव्य) दिशा में किया है।

7.4.6 उत्तर - बुद्धिजीवियों, धार्मिकों जैसे - संन्यासियों, पुरोहितों, ज्योतिषियों, ब्राह्मणों एवं धार्मिक स्थलों जैसे - कुटीरों, ब्रह्मज्ञानियों की सभाओं, पिआऊ तथा धर्मशाला की स्थापना के लिए उत्तर-दिशा श्रेय मानी गई है।[5] कौटिल्य ने नगर-देवता तथा कुलदेवता के मन्दिर एवं लुहारों, मणिकारों और ब्राह्मणों के घर बनाने का निर्देश दिया है।[6] श्रीकुमार ने इस दिशा में पुष्प-वाटिका तथा तेल-विक्रेताओं के घर बनाने का विधान किया है।[7] अन्य विचारकों के विपरीत भुवनदेव ने उत्तर-दिशा को शूद्रों के निवास के लिए उचित बताया है।[8]

7.4.7 उत्तर-पूर्व - आचार्य भोज एवं अग्निपुराणकार ने उत्तर-पूर्व दिशा को घी तथा फल-विक्रेताओं के निवास-हेतु प्रशस्त माना है।[9] इसके विपरीत अर्थशास्त्र में इस दिशा में अश्वशाला, गोशाला तथा कोशगृह के निर्माण का निर्देश है।[10]

7.4.8 पूर्व - सामान्यतः भारतीय विचारधारा में पूर्वदिशा को शुभ माना जाता है। सम्भवतः यही कारण है कि भोज ने सेनाध्यक्ष, राजप्रमुख आदि प्रशासक वर्गों तथा क्षत्रियों के गृह-निर्माण के लिए इस दिशा को शुभ माना है।[11]

पुरान्तर्गत विभिन्न वर्णों के अधिवास के लिए समराङ्गणसूत्रधारकार ने निम्नलिखित दिशाओं को संस्तुत किया है[12]-

---

1. कर्मस्वाधिकृता ये च ये चापि परिकर्मिणः।
   शौण्डिका ये च तान् सर्वान् वायोर्दिशि निवेशयेत्।। - स.सू. (शुक्ल सम्पादित), अ. 23, 93
2. "वायोः ककुभि कुर्वीत दण्डनाथान् सनायकान्।" - वही, अ. 23, 99
3. पश्चिमोत्तरं भागं यानरथशालाः। उत्तरपश्चिमं भागं पण्यभैषज्यगृहम्। - अ.शा.,अधि. 2, अ. 4
4. "जालिकानां तु वायव्ये"; "वायव्ये कारुकादीनाम्" - शि.र., अ. 5, पृ. 23-24
5. क) यतीनामाश्रयान् ब्रह्मवत्सानां तथा सभाम्।
   प्रपाश्च पुण्यशालाश्च कुर्याद् दिशि धनेशितुः।। - स.सू. (शुक्ल-सम्पादित) अ. 23, 94
   ख) पुरोहितज्योतिषिकानुत्तरस्यां निवेशयेत्। - वही, अ. 23, 99
   ग) "विप्राः सौम्या दिशो भागे...............।" - वही अ. 23, 100
6. नगरराजदेवतालोहमणिकारवो ब्राह्मणाश्चोत्तरां दिशमधिवसेयुः। - अ.शा., अधि.2, अ. 4
7. "उत्तरे पुष्पवाटिका"; "तलैविकयिणां सौम्ये" - शि.र, अ. 5, पृ. 23-24
8. "प्रशस्ताश्चोत्तरे शूद्रा", अ.पृ., अ. 72
9. क) घृतविकयिणो ये च फलविकयिणश्च ये।
   निवेशिता प्रशस्यन्ते पुरस्येशानदिग्गताः।।- स.सू. (शुक्ल-सम्पादित),अ. 23, 95
   ख) "फलाद्यादि विक्रियिण ईशाने च वणिग्जनाः।" -अ.पु., अ. 106, पृ. 320
10. "उत्तरपूर्व भागं कोशो गवाश्वं च।" - अ.शा., अधि. 2, अ04
11. पूर्वभागे बलाध्यक्षान् राज्ञो मुख्यांस्तथा वले।" - स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 23, 96
12. द्रष्टव्य : वही, जातिवर्णाधिवासाख्य 23वां अध्याय

1. ब्राह्मण उत्तरदिशा में
2. क्षत्रिय पूर्वदिशा में
3. वैश्य दक्षिणदिशा में और
4. शूद्र पश्चिमदिशा में।

जातिवर्णाधिवास का यह प्रकरण भले ही जाति-प्रथा से प्रेरित एवं आज के युग में अप्रासङ्गिक प्रतीत होता हो लेकिन इस विषय से जो सन्देश मिलता है वह यह है कि एक योजना-बद्ध नगरादि की योजना करनी हो तो यह अच्छा रहता है कि समान शिक्षा, सम्पत्ति एवं गुण वाले व्यक्तियों को एक स्थान पर बसाया जाय। अत्युच्च में अतिनिम्न आय वालों, पूर्ण शिक्षित एवं अशिक्षित जनों, कला-सम्पन्न एवं असभ्य व्यक्तियों को एक स्थान पर बसाने के दुष्परिणाम का अनुमान हम सहज ही लगा सकते हैं, जो कि समान व्यवसाय एवं समान आय वाले लोगों के मध्य सम्भव नहीं है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि व्यक्ति यथा-सम्भव समान गुणधर्म वाले व्यक्तियों के मध्य ही स्वयं को सहज अनुभव करता है। समधिक सम्पन्न उपनिवेशों के पार्श्वभाग में बनी हुई छोटी-छोटी झोपड़ियों में रहने वाले सर्वथा हेय एवं घृणित दृष्टि से ही देखे जाते हैं। जाति और वर्ण-व्यवस्था स्मृति-काल की भाँति यद्यपि कठोर न हो लेकिन आज भी नगर-वासी अपनी जाति, समान व्यवसाय, समान आय वर्ग के लोगों के मध्य रहना ही पसन्द करता है। इसके रूप हम आधुनिक नगरों के मध्य में दिखलाई पड़ने वाले वकील लेन, डॉक्टर्स् लेन, सैनिक लेन, पुलिस लेन आदि नाम के रूप में देख सकते हैं जो समान-व्यवसाय, समान-शिक्षा लोगों की सहस्थिति की भावना को ही पुष्ट करते हैं। बौद्धिक एवं भौतिक साधन की दृष्टि से समान व्यक्तियों का एक परिवेश में रहना, उन्हें आपसी उच्चता अथवा हीनता के बोध से बचा सकता है। वास्तुशास्त्रीय जातिवर्णाधिवास का यही अभिप्राय प्रतीत होता है।

जातिवर्णाधिवास में ही वैश्यों, वैद्यों (चिकित्सकों) एवं सुरक्षा-कर्मियों को चारों दिशाओं में रखने का विधान[1] समाज में उनकी झटिति आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही किया गया विधान प्रतीत होता है।

स्थापत्यादि ग्रन्थों में पुर अथवा नगर के विभिन्न भागों में विभिन्न वर्णों एवं व्यवसायिक जनों की उपनिवेश-व्यवस्था से यह भी सङ्केत मिलता है कि नगर में आवासीय भवनों एवं औद्योगिक इकाईयों का सन्निवेश पृथक्-पृथक् रूप में होना चाहिए। यह बात अवधारणीय है कि युग-परिवर्तन के साथ-साथ नए-नए आविष्कारों एवं आवश्यकता के अनुरूप वस्तुओं के उत्पादन से उद्योगों का स्वरूप तथा वस्तु-निर्माण के लिए बनाए जाने वाले भवनों का प्रारूप भी बदल गया है। पहले जिन कार्यों को एक व्यक्ति अपने एक दो सहयोगियों के साथ करता था उनमें से अनेक कार्य आज बड़े उद्योग या मध्यम आकार के उद्योग का रूप ले चुके हैं और जहाँ पर औद्योगिक इकाईयाँ होंगी वहाँ वायु, जल आदि प्रदूषित होंगे, जो कि स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होंगे। प्रदूषण की बढ़ती समस्या से निपटने के लिए दिल्ली जैसे महानगरों की अनेक औद्योगिक इकाईयों को, जिन्हें स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक समझा गया, उन्हें वहाँ से हटाकर अन्यत्र ले जाने का न्यायालय का आदेश इसी परिवर्तन को दर्शाता है।

1. स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 23, पृ. 107

वर्तमान समय में भारतवर्ष के अनेक छोटे-बड़े नगरों में आवासीय भवनों का ही प्रथम-खण्ड में लघु-उद्योग के कार्य सम्पन्न होते देखे जा सकते हैं जिनसे उनमें ऊर्ध्व-तलों में रहने वाले अथवा सम्पूर्ण भवन एवं आसपास के लिए भी अग्नि आदि का भय बना रहता है और यदा-कदा अनेक स्थानों पर इस प्रकार की दुर्घटनाएँ घटित होती रहती हैं। अत: वास्तुशास्त्रीय नियमों के अनुसार नगरों में सुनियोजित उपनिवेश-व्यवस्था से इस प्रकार की दुर्घटनाओं एवं ध्वनि-प्रदूषण आदि से सुरक्षित रहा जा सकता है। विभिन्न उद्योगों में रसायन-उद्योग, चर्म-उद्योग तथा धातु-उद्योग आदि हैं, जिनके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के भवनों, भवन-समूहों या विशाल उद्योग क्षेत्र के निर्माण की आवश्यकता है। घातक वर्ग के उद्योगों के लिए विस्फोट एवं आग लगने की सम्भावनाओं के कारण भवनों का प्रारूप कुछ विशेष सावधानी एवं विशेष यन्त्रों के नियोजन की व्यवस्था के साथ तैयार करना अपेक्षित है। क्योंकि ऐसे भवनों में जहरीली गैसों के फैलने की आशङ्काएँ बनी रहती हैं, अत: उनके दुष्प्रभाव को समाप्त करने के लिए हरित-क्षेत्र परमावश्यक है, जिनकी महत्ता के विषय में हमारे प्राचीन वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में भूमि -चयन के अन्तर्गत ही प्रशस्य भूमि की विशेषता सन्दर्भ में विस्तृत विवेचन हुआ है।

7.5 मार्ग-विनिवेश - एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने के लिए भू-पृष्ठ पर निर्मित रचना को पथ, मार्ग, राजमार्ग या सड़क कहा जाता है। मार्ग का मानव-जीवन के विकास के साथ सीधा सम्बन्ध है। भारत में वैदिक काल से ही मार्गों का निर्माण होता रहा है। वेदों में अश्व जुते हुए रथों का उल्लेख प्राप्त होता है, जो बनाये गये मार्गों पर तीव्र गति से चलते थे। रामायण[1] में भी ऐसे रथों और मार्गनिर्माण की विधियों का वर्णन प्राप्त होता है। पाणिनी के अष्टाध्यायी[2] में अजपथ, हस्तिपथ तथा रथपथ का उल्लेख मिलता है।

समराङ्गणसूत्रधार में राजमार्ग, महारथ्या, रथ्या, यानमार्ग आदि 34 प्रकार के मार्गों का उल्लेख हुआ है।[3]

7.5.1 राजमार्ग की दृढ़ता - ये राजमार्ग अपनी दृढ़ता एवं टिकाऊपन की दृष्टि से आधुनिक राजमार्गों से हीन या कम नहीं होते थे क्योंकि इनकी दृढ़ता पर प्राचीन ग्रन्थों में जो सामग्री मिलती है वह भी अत्यधिक उपादेय है। राजमार्ग के निर्माण में कङ्कड़ पत्थर को कूटकर इस प्रकार बिछाया जाता था कि उसकी दृढ़ता लम्बे समय तक बनी रहती थी। राजमार्ग के आधार में छ: इञ्च मोटा पत्थर या कङ्कड़ बिछाये जाने का विधान है।[4]

प्राचीन भारतीय नगरों के राजमार्गों की चौड़ाई, मार्गों की संख्या, यानमार्गों के किनारे जङ्घापथ का विधान आदि तत्कालीन नगर के भव्य स्वरूप को उद्घाटित करते हैं। जो स्वतन्त्र भारत के लगभग 60 वर्षों के पश्चात् भी मार्गों की सङ्कुलता, छोटे नगरों एवं ग्रामों के मार्गों की दयनीय दशा, एक गाँव से दूसरे गाँव के मध्य सम्पर्क-मार्ग के अभाव आदि को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यदि हमारे आधुनिक विकास-योजनाकारों ने हमारे प्राचीन वास्तुकारों के मार्ग-निवेश से थोड़ी भी प्रेरणा ली होती तो

---

1. वा.रा., बा.का., सर्ग 69, अयो.का., सर्ग 16, 71, 80 आदि
2. हिन्दी विश्वकोष, खण्ड 11, पृ. 441
3. स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 23, 6-15
4. हि.वि.को., खण्ड 11, पृ. 441

बहुत पहले हमारे राष्ट्र में मार्ग-जाल बिछ चुका होता। समुचित मार्ग-निवेश का महत्त्व स्वतः सिद्ध है। भारत जैसे विशाल भू-भाग वाले राष्ट्र में देश के एक कोने से दूसरे कोने को जोड़ने वाले खुले-खुले राजमार्गों का निर्माण यात्राकर्ताओं का समय, धन, इन्धन-खर्च को बचाने के साथ-साथ ताजी सब्जी, ताजे फल आदि के वाहक वाहनों का समय और इन्धन की मितव्ययिता के साथ-साथ इन्हें लम्बे समय के कारण इनके सड़ने से होने वाले बहुत बड़े नुकसान से भी बचा जा सकता है। बहुत विलम्ब से ही सही पिछले पाँच-छः वर्षों में भारत सरकार का मार्ग-निर्माण की ओर ध्यानाकृष्ट हुआ है और कुछ योजनाएँ इस सम्बन्ध में बनी हैं, आवश्यकता उनके शीघ्र क्रियान्वयन की है।

7.6 सुरक्षोपाय - भारतीय वास्तुविदों ने नगर, राजप्रासादादि की सुरक्षा के लिए भी कई उपयोगी दिशा-निर्देश दिये हैं जिन्हें हम वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में विवेचित--परिखा, वप्र, प्राकार, अट्टालक के रूप में देख सकते हैं।

7.6.1 परिखा - नगरादि की सुरक्षा के लिए बनने वाली परिखा नगर को चारों ओर से घेरी हुई होती थी। कम से कम 12 फुट चौड़ाई[1] से लेकर अधिकतम 18 फुट चौड़ाई या इससे भी अधिक चौड़ाई तक बनने वाली यह परिखा नगर की सुरक्षा के साथ-साथ नगर की गन्दगी बहाने के काम में भी आती थी।[2] परिखाओं की गहराई, चौड़ाई से अल्प अथवा आधी रखने के पीछे भी सुरक्षा-भावना ही थी।[3] जल-परिखा हो या पङ्क-परिखा अथवा रिक्त-परिखा, यह नगर में रहने वालों की आक्रमणकारियों से सुरक्षा की दृष्टि से ही बनाये जाते थे।

आज के अतिविकसित शास्त्रास्त्र के युग में परिखा की उपयोगिता प्रतीत नहीं होती हो लेकिन यह नगर-योजनाकारों को युगानुसार सुरक्षा-साधनों से सम्पन्न करने की शिक्षा तो अवश्य देता है।

7.6.2 वप्र - वप्र का निर्माण परिखा के निर्माण के लिए खोदकर निकाली गई मित्री से किया जाता था।[4] यह वप्र वर्गाकार, आयताकार, गोल, अण्डाकार तथा वर्तुलाकार के भेद से पाँच प्रकार का माना गया है।[5]

7.6.3 प्राकार - पुर की सुरक्षा के मुख्य साधनों में प्राकार भी सम्मिलित है जिसका निर्माण, वप्र के ऊपर मध्यभाग में किया जाता था।[6] विस्तार तथा ऊँचाई की दृष्टि से श्रेष्ठ, मध्यम तथा अधम तीन

---

1. तद् द्वादश दशाष्टौ स्यात् करान् ज्येष्ठाधिकं त्रिषु। - स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 23, 9
2. भारत का प्राचीन इतिहास (सत्यकेतु), पृ. 379
3. शुक्रनीतिसार, अ. 1, 240
4. "परिखोरवातया मृदा।" - स.सू. (शुक्ल-सम्पादित) अ. 23, 19
5. चतुरश्रमायताश्रं वृत्तं वृत्तायतं च पुनः।
   स्याद् गोलवृत्तमेवं वप्राकारास्तुपञ्चैव।। - मयमत, अ. 10, 13
6. क) "वप्रोधर्वभागगं मधयम्।" - स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ0 23, 25
   ख) "वप्रस्योपरिप्राकारम्।" - अ.शा., अधि. 2, अ. 3

प्रकार के प्राकार होते थे।[1] प्राकारों का निर्माण मिट्टी[2], इष्टका[3], एवं पत्थरों से[4] किया जाता था, जिन्हें क्रमशः पांसु-प्राकार, इष्टका-प्राकार, प्रस्तर-प्राकार कहा जाता था। इन प्राकारों की बाह्य-भूमि में शत्रुओं को चोट पहुँचाने की दृष्टि से खूँटे, त्रिशूल, गढ़े लौह कण्टक के ढेर, साँप के काँटे, लोहे के जाल, नुकीले काँटे आदि से जमीन को पाट दिया जाता था।[5] प्राकार की चोटी पर नगर-रक्षा की दृष्टि से कुल्हाड़ी, मशीनें, तोपें, गदा, मुद्‌गर आदि रखे जाते थे।[6]

प्राचीन भारतीय नगरों के चारों ओर वप्र, प्राकार, परिखा आदि का निर्माण, परिखाओं को जल से आपूरित करने का विचार तथा उनमें नक्र जैसे हिंसक जल-जन्तुओं को छोड़ना तत्कालीन नागरिकों के बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रहने की भावना को प्रकट करता है। यद्यपि आधुनिक युग में नगर को सुरक्षित रखने के लिए परिखा जैसे कृत्रिम सुरक्षा-साधन की प्रासङ्गिकता प्रतीत नहीं होती परन्तु वप्र एवं प्राकार जैसे सुरक्षा-साधनों की महत्ता आज भी परिलक्षित होती है। आज भारत जैसे आतङ्कवाद-ग्रस्त राष्ट्र में नगरादि में बाह्य आक्रमणों से कहीं अधिक आन्तरिक सुरक्षा की आवश्यकता है। इस दृष्टि से प्राकारादि सुरक्षा-साधनों का महत्त्व बढ़ जाता है और इस बात के द्योतक सैनिक छावनियों, औद्योगिक परिसरों, महत्त्वपूर्ण भवनों एवं विशिष्ट व्यक्तियों के आवासीय परिसरों आदि विभिन्न स्थानों में प्राकार का अन्यतम रूप सुदृढ़ और ऊँची-ऊँची चहारदीवारी देखी जा सकती है। जिस प्रकार प्राचीन समय में प्राकारों या प्राचीरों के ऊपर निर्मित अट्टालकों (बुर्जों) में सुरक्षा के लिए सैनिक नियुक्त रहते थे, उसी प्रकार आज भी चहारदीवारियों में यथास्थान सुरक्षा-कर्मियों की उपस्थिति देखी जा सकती है, जो बाहरी गतिविधियों पर दृष्टि रखते हैं। चहारदीवारियों के ऊपर कंटीले तारों का प्रयोग असामाजिक तत्त्वों से सुरक्षित रहने की भावना को और अधिक सुदृढ़ बनाता है। इस प्रकार वप्र, प्राकार आदि सुरक्षा के साधन सर्वथा हेय नहीं है।

7.7 देवतुल्यीकरण एवं नगर-सौन्दर्यीकरण (DeficationAnd Beautification of Towns) -भारतीय स्थापत्य-ग्रन्थ नगर की इकाई के रूप में भवनों, मार्गों, प्राकार-परिखादियों एवं सभा-भवनों तथा राजप्रासादों के भव्य निर्माण-विधि के द्वारा निर्माण-सम्बन्धी उत्कृष्ट कौशल के परिचायक तो हैं ही, मन्दिरों, तड़ागों, वापियों, उद्यानों, बगीचों का सौन्दर्य साधक के रूप में नगर में यथास्थान निर्माण का निर्देश , नागरिकों की स्वास्थ्य-चिन्ता एवं सौन्दर्यपरक चेतना का भी प्रमाण देते हैं।

भारतीयों का जीवन प्राचीन काल से ही धर्ममय रहा है। उनकी धार्मिक एवं सात्विक बुद्धि का ही परिणाम है कि उनके जीवन का प्रत्येक कार्य देवताओं से सम्बद्ध होता था। नगर के अन्दर तथा बाहर बने भव्य एवं कलात्मक प्रासाद (मन्दिर) नगर-शोभा की अभिवृद्धि करते थे। नगर की इकाई के रूप में निर्मित भवनादि के बाह्य-द्वारों को लक्ष्मी, कुबेर, विष्णु आदि के चित्रों से अङ्कित कर उन्हें सुन्दर बनाया जाता था।[7] ऐसे देव-चित्रों से सुशोभित नगर अनेक प्रकार की विपदाओं का अन्त कर शान्ति, समृद्धि

1. स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 23, 26-27
2. हरिवंशपुराण, हरिवंशपर्व, अ. 54, 58
3. ''पक्वेष्टद्रुकामयम्'' - स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 23, 25
4. ''स्थूलोपलशिलाचितम्'' - वही, अ. 23, 25
5. बहिर्जानुभञ्जनी........छन्नपथं कारयेत्। - अ.शा., अधि. 2 , अ. 3
6. वही, अधि. 2, अ. 3
7. क) स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 23, 104-6 ख) अग्निपुराण, अ. 108

एवं प्रसन्नता को देने वाला होता है। वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में नगर की चारों दिशाओं एवं उपदिशाओं में विभिन्न देवी-देवताओं के मन्दिरों की स्थापना का विधान है। जैसे समराङ्गणसूत्रधारकार ने नगर के बाह्य प्रदेशों में जिन दिशाओं-उपदिशाओं में देवमन्दिरों की स्थापना के लिए जो निर्देश दिया है, वह निम्न प्रकार है-

विष्णु, सूर्य, इन्द्र तथा धर्मराज के मन्दिर पूर्व-दिशा में; सनत्कुमार, सावित्री, मरुतों एवं मारुत के मन्दिर पूर्व-दक्षिण (आग्नेय कोण) में; गणेश, माताओं, भूतों एवं यमराज के मन्दिर दक्षिण-दिशा में; भद्रकाली का मन्दिर एवं पितरों के चैत्य दक्षिण-पश्चिम में; सागर, नदियों, विश्वकर्मा, ब्रह्मा और वरुण के मन्दिर पश्चिम-दिशा में, बनाने का विधान है। इसी प्रकार नागों, शनैश्चर, कात्यायनी के मन्दिर पश्चिमोत्तर-दिशा में; विशाख, कार्तिकेय, चन्द्रमा एवं कुबेर के प्रासाद उत्तर-दिशा में और महेश, लक्ष्मी एवं अग्निदेवता के मन्दिरों का निर्माण पूर्वोत्तर दिशा में करने का उल्लेख हुआ है।[1] नगर के मध्य भाग में जिन देवों के मन्दिरों की स्थापना का उल्लेख हुआ है उनमें ब्रह्मा, इन्द्र, बलराम एवं कृष्ण हैं।[2]

नगर तथा अपने आवास के आस-पास मन्दिरों की स्थापना से यह बात सिद्ध होती है कि प्राचीन भारतीयों के जीवन में भौतिकता की तुलना में आध्यात्मिका तथा काम एवं अर्थ की तुलना में धर्म की प्रधानता थी।

सौन्दर्यीकरण के साधन के रूप में मन्दिरों देवचित्रों एवं भित्तिचित्रों के अतिरिक्त प्राचीन, विशेषतः मधयकालीन भारत (मालवनरेश भोज के शासनकाल) में नगर एवं नगरप्रान्त उद्यानों, तालों, बगीचों, तालाबों, वापियों, कूपों एवं जनस्थानों (Public Places) से सुसज्जित होते थे। नगर इतने सुनियोजित ढंग से बसाये जाते थे कि उनमें विभिन्न वर्गों एवं व्यवसायिकों के निवास-स्थलों के बीच खुले स्थानों की ऐसी व्यवस्था होती थी, जिससे स्वच्छ-वायु एवं सूर्य-किरणों की यथेष्ट रूप में प्राप्ति हो सके। तत्कालीन मन्दिरों के खुले आँगन, तालाब, वापियाँ, बगीचे आदि नगरवासियों के मिलने एवं नगर-विषयक परिचर्चा के स्थल होते थे। राजप्रासादों में अवस्थित सभा-भवनों से जो कार्य लिया जाता था, साधारण नागरिकों का वही कार्य इनके माध्यम से सम्पन्न होता था। समराङ्गणसूत्रधार के अनुसार दुर्गों से परिवेष्टित द्वारों, नगर-द्वारों एवं गलियों से मण्डित नगर सुन्दर उपवनों से घिरे होते थे। नगर के बीचों-बीच विशाल प्रमोदवन (सर्वसामान्य के भ्रमण के लिए निर्मित बगीचा, Large Park) पुष्पोद्यान से घिरे होते थे। नगर-रक्षा के उद्देश्य से बनाई गई परिखाएँ चारों ओर से पुष्पों, सुरम्य पौधों एवं वृक्षों के सुन्दर, सुगन्धित बगीचों से परिवेष्टित होते थे।[1] परिखा का बाह्य-भाग लताओं, द्रूमों से मण्डित होता था। कुछ विशेष वृक्षों के प्रति भारतीयों की पवित्रता एवं पूज्यता का भाव उन्हें वृक्षारोपण एवं वृक्ष-संवर्द्धन-कार्य में प्रेरित करता था। पवित्र बिल्व-वृक्ष, छाया बहुल वट-वृक्ष, विशिष्ट गुण-सम्पन्न कदम्ब-वृक्ष', आरोग्य-प्रद नीम, सौरभ-सम्पन्न चम्पक आदि वृक्ष न केवल नगर-श्री को अभिवृद्ध करते थे अपितु नगर-निवासियों की धार्मिक भावना को भी परितुष्ट करने वाले होते थे। इनमें से कुछ वृक्षों के फल-फूल देवपूजा में भी अर्पित होते थे।[2]

---

1. स.सू. (शुक्ल-सम्पादित), अ. 23, 115-21
2. मधये पुरस्य कर्तव्यं गृहमम्भोजजन्मनः।
निवेशनं तथेन्द्रस्य तथैव हलिकृष्णयोः॥ - वही, अ. 23, 130

सर्वं शक्तिमयं जगत्

डॉ. जागीर सिंह
संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

"शक्ति" शब्द विविध अर्थों में प्रयुक्त होता चला आ रहा है। प्रत्येक दर्शन, सम्प्रदाय, धर्म अथवा मत अपने-अपने ढंग से, नाम विशेष से एवं रूप विशेष में अनादि काल से शक्ति को मानता चला आ रहा है। केवल आध्यात्मिक स्तर पर ही इसकी मान्यता की बात नहीं है, प्रत्युत् भौतिक क्षेत्र में भी इसका प्रयोग एक बच्चे से लेकर वृद्ध व्यक्ति, श्रमिक से लेकर व्यवसायी, किसान, विद्वान्, राजनेता, विज्ञानी किंवा प्रत्येक वर्ग एवं सांसारिक क्षेत्र में विविध रूपों में देखा और अनुभव किया जाता है। ऐसा माहेश्वराचार्य महेश्वरानन्द की महार्थमञ्जरी[1], श्रुति[2], श्रीकालोत्तर तन्त्रादि[3] से स्पष्ट है। तन्त्रालोक में अभिनवगुप्त अनुसार शक्ति जड़-चेतनभाव का स्वरूप अर्थात् आत्मसत्ता होती है।[4] उसी से भाव-अभावरूप जगत् की सत्ता (अस्तित्व) है। शिवसूत्रविमर्शिनी में राजानक क्षेमराज अभिव्यक्त करते हैं कि वह ही सब की आत्मा एवं स्वभाव (Real-Self, Self Existence) है।[5] वह चैतन्यरूप है। इसलिये उसी के प्रकाश से सभी प्रकाशित होते हैं। आत्मप्रकाशरूप चिति शक्ति के बिना कोई भी सत्ता भासित नहीं हो सकती – ऐसा अनुभव सिद्ध ही है।[6] यही सत्य अनेकशः श्वेताश्वतरोपनिषद्, कठोपनिषद्[7], भगवद्गीतादि श्रुतियों में प्रतिपादित किया गया है।[8] पराप्रावेशिका में कहा गया है कि इस शक्ति

1. "यं जानन्ति जडा अपि जलहार्योऽपि यं विजानन्ति" – म०मं०, 4
2. "उतैनं गोपा अदृशन्नुतैनमुदहार्य:" – श्रुति
3. "आगोपालाङ्गनाबाला नित्यमेव ब्रुवन्ति तम्" – श्रीकालोतरे
4. "शक्तिश्च नाम भावस्य स्वं रूपं मातृकल्पितम्।
तेनाद्वय: स एवापि शक्तिमत्परिकल्पने।।" – तं०आ०, 1/109
5. "सा एव आत्मा, स्वभाव:, विशेषाचोदनात् भावाभावरूपस्य जगत:" – शि०सू०वि०, 1/1
6. "न हि अचेत्यमान: कोऽपि कस्यापि कदाचिदपि स्वभावो भवति।
चेत्यमानस्तु स्वप्रकाशचिकवेकीभूतत्वात् चैतन्यात्मैव।।" – शि०सू०वि०, 1/1
7. "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि:।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" – श्वेत०उप०, 6/14, कठ०उप०, 2/2/15
8. "न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावक:।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।" – भ०गी०, 15/6

को आगमों में विमर्श, चित्, चैतन्य, स्वरसोदिता परावाक्, स्वातन्त्र्य, परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सारा, हृदय, स्पन्द आदि नामों से संज्ञित किया गया है।[1] ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में आचार्य उत्पलदेव ने ऐसा ही मत अभिव्यक्त करते[2] हुये शक्ति को स्फुरत्ता, चिति, महासत्ता, देश-कालाविशेषिणी, सारा, हृदय, स्फुरणकर्तृता आदि नामों से आगमों में सम्बोधित होना कहा है।[3] शैवाद्वैत दर्शन में इसे विश्वोत्तीर्णा, विश्वोत्तीर्णा, विश्वमयी, परा, परापरा, अपरा एवं परावाक्, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी एवं ब्राह्मी आदि शक्तिरूपा संवित् अथवा परासंवित् कहा गया है।[4] रहस्यपञ्चदशिका में कहा है कि इस शक्ति के बिना कोई कुछ नहीं कर सकता है, न ही जान सकता है, न ही संकल्प-विकल्प आदि ही किया जा सकता है, ऐसी वह पराशक्ति शिवा सर्वमङ्गलकारिणी जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहारादि करने वाली है।[5] परात्रिंशिका विवरण अनुसार वास्तव में सुनना, देखना, बोलना, ग्रहण करना आदि सभी भगवती शक्ति के ही विविध रूप हैं[6] इस तथ्य को ऐतरेयोपनिषद् में स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि जिसकी शक्ति से प्राणी रूप देखता है, शब्द सुनता है, गन्ध सूँघता है, वाणी बोलता है, मधुर-अमधुरादि को जानता है, वह आत्मशक्ति ही है।[7] केनोपनिषद् भी उसको श्रोत्र की श्रवण शक्ति, मन की मनन शक्ति, वाणी की वाक्शक्ति, प्राण की प्राणन शक्ति, चक्षु की दर्शन शक्ति, आदि मानता है।[8] कठोपनिषद् भी कहता है कि इस आत्मशक्ति द्वारा ही जीव रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द और मैथुन अर्थात् अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार) बहिष्करण (ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय) के कार्य करने में समर्थ होता है।[9] ऋग्वेद के वाक् सूक्त में भी यही तथ्य उद्घाटित किया गया है

---

1. "एष (शक्ति) एव विमर्शः चित्, चैतन्यं, स्वरसोदितपरावाक्, स्वातन्त्र्यं, परमात्मनो मुख्यमैश्वर्यं, कर्तृत्वं, स्फुरत्ता, सारा, हृदयं, स्पन्दः इत्यादि – शब्दैरागमेषूद्घोष्यते" – परा०प्रा०, पृ० 2
2. "चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुखं तदैश्वर्यं परमात्मनः।।" – ई०प्र०का०, 1/44
3. "सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।।" – ई०प्र०का०, 1/45
4. "विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णां हृदयं परमेशितुः।
परादिशक्तिरूपेण स्फुरन्तीं संविदं नुमः।।" – परा०प्रा०, 1
5. "यया विना नैव करोति किञ्चिन्न वेत्ति नापीच्छति संविदेशः।
तस्यै परस्यै जगतां जनन्यै नमः शिवायै शिववल्लभायै।।" – र०पं०द०, 4
6. "वस्तुतो हि शृणोति पश्यति वक्ति गृह्णाति इत्यादि भगवत्या एव रूपम्।" – परा०त्रिं०वि०, पृ० 71
7. "कोऽयमात्मेति वयमुपासहे कतरः स आत्मा, येन वा रूपं पश्यति, येन वा शब्दं शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति।" – ऐत०उप०, 3/1
8. "श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाच ँ स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।" – केन०उप०, 1/2
9. "येन रूपं रसं गन्धं स्पर्शशब्दौ च मैथुनम्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते।।" – कठ०उप०, 2/1/3

कि पराशक्ति की सामर्थ्य से ही जीव अन्न खाता है, देखता है, श्वास-प्रश्वास लेता है, सुनता है, मननादि तत्-तत् कार्य करता है।[1] यह पराचिति परमेश्वरी शक्ति अपने भीतर अनन्त छत्तीस तत्त्वात्मक जगत् को क्रोड़ीकृत किये हुये है।[2] श्री परशुराम भी अपने कल्पसूत्रों में जगत् को छत्तीस तत्त्वात्मक ही मानते हैं।[3] उपनिषद् अनुसार यह आत्मशक्ति न स्त्री है, न पुरुष है और न ही नपुंसक है, प्रत्युत् जिस जिस शरीर को ग्रहण करती है अथवा रूप को धारण करती है, वैसी ही परिलक्षित होती है।[4]

अभिनवगुप्त अनुसार शास्त्रों में निरूपित है कि जगत् का कण-कण भी ब्रह्मशक्ति का सर्वरूप है। एक एक तत्त्व भी एकत्र रूप से छत्तीस तत्त्वमय है।[5] अतएव एक ही अद्वितीया, सर्वथा परिपूर्णरूपा, संवेदनसत्ता, यह भट्टारिका पराभगवती परमेश्वरी है और इसमें कोई क्रमादियोग नहीं होता है[6], वह तो ईश्वरप्रत्यभिज्ञा अनुसार इसी की कालशक्ति के प्रभाव से लौकिक क्रिया में होता है।[7] इसी शक्ति को "अहमिति" कहा जाता है। विपर्यय संहार से तो "अह् अं" कही जाती है। दोनों प्रकार से भी यह वस्तुतः एक ही संवित् होती है। इसी प्रकार वह सर्वत्र घट सुख आदि के प्रकाश (ज्ञान) में भी स्वात्म विश्रान्ति सर्वस्वभूत "अहंभाव" है।[8] जैसा कि उत्पलदेव अजडप्रमातृसिद्धि में कहते हैं कि प्रकाश अर्थात् सभी प्रकार के ज्ञान की जो आत्मविश्रान्ति होती है, उसी को 'अहंभाव' कहते हैं।[9] इसलिये अभिनवगुप्त परात्रिंशिका विवरण में निष्कर्षतः कहते हैं कि वह परा शक्ति यथार्थ में सर्वात्मक है।[10] श्रीदुर्गा सप्तशती

---

1. "मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि।।" – ऋ०वे०मं० 10, अ० 10, दे०सू०, 125/4
2. "पारमेश्वरी हि शक्तिः अनन्तषट्त्रिंशदादितत्त्वगर्भिणी।" – परा०त्रिं०वि०, पृ० 66
3. "षट्त्रिंशत्तत्त्वानि विश्वमिति" – प०रा०क०सू०, 1/4
4. "नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते।।" – श्वे०उप०, 5/10
5. (क) "प्रदेशमात्रमपि ब्राह्मणः सर्वरूपम् एकैकत्रापि च तत्त्वे षट्त्रिंशत्तत्त्वमयत्वम्" – परा०त्रिं०वि०, पृ० 139
(ख) "सर्वमिदं हि षट्त्रिंशदात्म" – परा०त्रिं०वि०, पृ० 86
6. "इत्येकैवाद्वयपरिपूर्णरूपा संवेदनसत्ताभट्टारिकेयं परा भगवती परमेश्वरी,
न त्वत्रक्रमादियोगः कश्चित्" – परा०त्रिं०वि०, पृ० 197-98
7. "सक्रमत्वं च लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः।
घटते न त शाश्वत्याः प्राभव्याः स्यात् प्रभोरिव।।" – ई०प्र०का०, 2/2
8. "तदेतदुच्यते 'अहमिति' विपर्यये तु संहतो 'अह् अं' इति, द्वेधमपि च इयमेकैव वस्तुतः संवित्,
एवमेव सा सर्वत्र घटसुखादिप्रकाशेऽपि स्वात्मविश्रान्तिसर्वस्वभूतोऽहंभावः" – परा०त्रिं०वि०, पृ० 197-98
9. "प्रकाशस्यात्मविश्रानितरहंभावो हि कीर्तितः" – अ०प्र०सि०, का० 22
10. "सा च वस्तुतः सर्वात्मकः" – परा०त्रिं०वि०, पृ० 197-98

के मूर्तिरहस्य में पराशक्ति को सर्वरूपमयी एवं जगत् को देवीमय (शक्तिमय) कहा गया है।[1] मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत देवी माहात्म्य में भी शक्ति को नित्या जगन्मूर्ति अभिहित किया गया है और इसे (जगत् को) उससे (भगवती से) सर्वथा ओतप्रोत बतलाया है।[2] ईशावास्योपनिषद् में भी 'ईशा शक्ति' से सकल जगत् प्रपञ्च (स्थावर जङ्गम) को व्याप्त बताया गया है।[3] त्रिपुरातापिन्युपनिषद् में कहा गया है कि एक ही सर्वभूतात्मरूप शक्ति सभी भूतों में जलचन्द्रवत् एकधा एवं बहुधा व्यवस्थित है।[4] आथर्वणी श्रुति देवी उपनिषद् में भी विस्तार से चिति शक्ति की सर्वात्मकता का वर्णन किया गया है।[5] योगवासिष्ठ महारामायण में ब्रह्मर्षि वसिष्ठ भगवान् श्रीराम को शक्ति की सर्वात्मकता का रहस्य उद्घाटित करते हुये कहते हैं कि नित्य, सर्वथा परिपूर्ण, अविनाशी, सर्वव्यापक, सर्वशक्ति परमब्रह्म स्वरूपा में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो विद्यमान न हो अर्थात् सब कुछ अवस्थित है। वह सर्वशक्ति सम्पन्न है एवं सर्वगामी इसी विलसित (स्फुरित) सर्वशक्तिता को सर्वत्र कार्यरूप से प्रकट करती है। सभी प्रकार के प्राणियों के शरीरों में यह शक्ति चित् (चेतन) शक्तिरूप, वायु में स्पन्दशक्ति रूप, पाषाण में जडशक्तिरूप, जल में द्रवशक्तिरूप, अग्नि में तेजशक्ति रूप, आकाश में शून्य (अवकाश देने की) शक्ति, भव (संसार) की स्थिाति में भावशक्ति, दश दिशाओं में दिग्शक्ति, संहारों में नाशशक्ति, शोकग्रस्तों में शोकशक्ति, आनन्दमग्नों में आनन्दशक्ति, बलवानों में वीर्यशक्ति, सर्गों में सर्गशक्ति, कल्पान्त मे प्रलय में प्रलयशक्ति आदि विविध रूपों में विद्यमान है। जैसे वृक्ष के बीज में अतिसूक्ष्म रूप (Potential form) से फल, पुष्प, लता, पत्र, शाखा, विटप एवं मूल सहित वृक्ष अवस्थित रहते हैं, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् परमब्रह्मस्वरूपिणी पराशक्ति भगवती में विद्यमान रहता है।[6] रुद्रयामल तन्त्र वा कौल दर्शन के साररूप परात्रिंशिका शास्त्र

1. "सर्वरूपमयी देवी सर्वं देवीमयं जगत्।
अतोऽहं विश्वरूपां तां नमामि परमेश्वरीम्॥" – दु॰स॰, मू॰र॰, 26
2. ऋषिरुवाच – "नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्॥" – दु॰स॰, 1/64
3. "ईशावास्यामिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्" – ईशा॰उप॰, मं॰ 1
4. "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित:।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥" – त्रि॰ता॰उ॰, 5/15
5. "साऽब्रवहीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्त: प्रकृतिपुरुषात्मकं जगच्छून्यं चाशून्यं च।
अहमानन्दानानन्दा:। विज्ञानाविज्ञानेऽहम् ब्रह्माब्रह्मणी वेदितव्ये। इत्याहाथर्वणी श्रुति:।
अहं पञ्चभूतान्यपञ्चभूतानि। अहमखिलं जगत्" – दे॰उप॰, 1-3
6. श्रीवसिष्ठ उवाच – "सर्वशक्तिपरमब्रह्मनित्यमापूर्णमव्ययम्। न तदस्ति न तस्मिन् यद्विद्यते विततात्मनि॥ सर्वशक्तिर्हि भगवान्यैव तस्मै हि रोचते। शक्तितामेव विवतां प्रकाशयति सर्वग:॥ चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरेष्वभिदृश्यते। स्पन्दशक्तिश्चवातेषु जडशक्तिस्तथोपले॥ द्रवशक्तिस्तथाम्भ:सु तेज: शक्तिस्तथानले। शून्यशक्तिस्तथाकाशे भावशक्तिर्भवस्थतौ॥ ब्रह्मण: सर्वशक्तिर्हि दृश्यतेदशदिग्गता। नाशशक्तिर्विनाशेषुशोकशक्तिश्चशोकिषु॥ आनन्दशक्तिर्मुदितेवीर्यशक्तिस्तथाभटे। सर्गेषु सर्गशक्तिश्च कल्पान्ते सर्वशक्तिता॥ फलपुष्पलतापत्रशाखाविटपमूलवान्। वृक्षबीजेयथावृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम्॥" – यो॰वा॰म॰रा॰, 100/5-11

में भी कहा गया है कि जिस प्रकार विशाल वट वृक्ष अतिसुक्ष्म (शक्ति) रूप में बीज में विद्यमान रहता है, वैसे ही चराचर जगत् पराशक्ति[1] में मयूराण्डरस की तरह सभी विशेषताओं सहित ऐकात्म्य से रहता है। ऐसा विष्णु पुराण में भी कहा गया है।[2] अर्थात् शक्ति ही एकत्व में अनेकत्व को अन्तर्हित किये रहती है। ऐसा कूर्म, लिङ्ग तथा वायु आदि पुराणों में वर्णित है।[3] अर्थात उसमें सर्वसामर्थ्य है। कुछ भी प्रकट-अप्रकट अथवा उत्पन्न-संहृत कर सकती हैं किसी भाव का स्फुरण उसकी उत्पत्ति एवं अस्फुरण लोप कहा जाता है, जबकि योगवासिष्ठ अनुसार वास्तव में किसी भाव अथवा पदार्थ विशेष के शक्तिसर्वरूप होने से उसमें अपने कारणरूप शक्ति की सभी विशेषतायें अन्तर्हित रहती हैं।[4] प्रकट न होने से छुपी रहती हैं। उसके विशेष व्यक्तरूप को अव्यक्त एवं अव्यक्त को व्यक्त किया जा सकता है। क्योंकि योगवासिष्ठ अनुसार विश्व में सदैव सर्वत्र सत्तामात्र रूप से अतिसूक्ष्म रूप में (Potential form) शक्ति की सर्वात्मकता के कारण सभी भाव (पदार्थ) अवस्थित रहते हैं। केवल जिस भाव (अथवा प्रत्यय) की मात्रा कुछ अधिक प्रस्फटित होती है, वही वस्तु अभिव्यक्त तथा इन्द्रियगोचर होती है।[5] दूसरी ओर, इसके विपरीत जिसकी मात्रा प्रस्फुटित नहीं होती, वह प्रकट नहीं होती है। अतएव योगीजन इस शक्ति विज्ञान की व्यञ्जना के कौशल को जान लेने से जिस किसी भी स्थान अथवा वस्तु से वस्तु से किसी भी समय अभीष्ट वस्तु का प्राकट्य करने में समर्थ होते थे। महर्षि वाल्मीकि का कुशा से कुश (लव सदृश सीता पुत्र) का निर्माण, भगवती पार्वती का मैल (मिट्टी) से गणेश का अत्पन्न करना, भगवान् श्रीकृष्ण का अर्जुन को विश्वरूप दर्शन श्रीहनुमान का समुद्र लंघन के समय भूधराकार रूप, महर्षि भारद्वाज का भरत की एक लाख सेना का आतिथ्य, वामनादि अवतारों का क्षण में विश्वरूपत्वादि, विष्णु द्वारा मार्कण्डेयादि को माया प्रदर्शन प्रकृति आपुर वा अगस्त्यादि का समुद्रपानादि (तोयादि प्रकृति अपसार) आदि पौराणिक एवं रामायण-महाभारत आदि में वर्णित तथ्य शक्ति विज्ञान द्वारा ही सम्भव बतलाया

1. "यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपेण महाद्रुमः। तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम्।।" – परा॰त्रिं॰, 34
2. "यथा च पादपो मूलस्कन्धशाखाऽऽदिसंयुतः। आदिबीजात्प्रभवति बीजान्यन्यानि वै ततः।। सम्भवन्ति ततस्तेभ्यो भवन्त्यन्ये परे द्रुमाः। तेऽपि तल्लक्षणद्रव्यकारणानुगता मुने।। एवमव्याकृतात्पूर्वं जायन्ते महदादयः। सम्भवन्ति सुरास्तेभ्यस्तेभ्यश्चाखिलजन्तवः।।" – वि॰पु॰, 2/7/32
3. "एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः। भूत्वा यस्मातु बहुधा भवत्येकः पुनस्तु सः।। तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि। एकधा तद् द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः।। योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च। प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।। संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव।।" – कू॰पु॰, 4/54-55, लिं॰पु॰, 70/93, वा॰पु॰, 66/43-44
4. "तस्माद् अवयवसंयोगनाशो न द्रव्यनाशहेतुः, किं तु वह्नयादौ तृणारणिमण्यादिवदव्यवस्थितमेव फलबलात्कारणं कल्पनीयम्" – यो॰वा॰, 3/13
5. "लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धात्" – यो॰वा॰, 1/49

गया है।[1] व्यावहारिक जगत् में जिस पदार्थ विशष को जिस रूप-रंग-आकार विशेष में देखा जाता है अथवा पहचाना जाता है, वह उसकी आपेक्षित सत्ता होती है। उसका वही उपलब्ध रूप सत्य हो, ऐसी बात नहीं है। लोह खण्ड केवल लोहा ही नहीं होता, उसमे समस्त प्रकृति (शक्ति) अव्यक्त रूप में समाहित होती है। केवल लौहभाव की प्रधानता से अन्यान्य सभी अनेकविधभाव उसमें अन्तर्हित होकर अदृश्य हुये होते हैं। योगी विशुद्धानन्द अनुसार किसी भी अदृश्य (विलीन) भाव को जागृत (प्रबद्ध) कर उसकी मात्रा बढ़ा देने पर उसका वर्तमान पूर्वभाव स्वभावत: ही अव्यक्त हो जाता है और अन्य अभीष्ट भाव व्यक्त हो जाता है। जैसे लोहभाव में सुवर्णभाव अव्यक्त होता है, यदि उसकी प्रकृति शक्ति के आपूरण से मात्रा बढ़ा दी जाये, तो व्यक्त लौहभाव अव्यक्त हो जायेगा और अव्यक्त सुवर्णभाव प्रबल हो जाने से व्यक्त हो जायेगा। तब असे सुवर्ण के नाम तथा रूप से पहचाना जायेगा। इसी प्रकार अन्य भावों के सम्बन्ध में भी शक्ति की सर्वात्मकता के कारण जानना चाहिये। स्थल दृष्टि से यही समझा जायेगा कि लोहा सुवर्ण बन गया, परन्तु यथार्थ में ऐसी बात नहीं है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्रों में इसे 'जात्यन्तर परिणाम' संज्ञित किया है। तदनुसार प्रकृति शक्ति के आपूरण से 'जात्यन्तर परिणाम' होता है, जिससे एकजातीय वस्तु अन्य जातीय वस्तु में परिणत हो जाती है।[2] जो साधक शक्ति के इस रहस्य का ज्ञान अथवा विज्ञान कर लेता है, वही वास्तविक ज्ञानी होता है। शक्ति के तत्त्व को न समझ पाने वाले अज्ञानीजन इसे पुरुष विशेष का जादू (Magic) अथवा चमत्कार (Miracle) मानकर आत्म विस्मृत रहते है। यह विज्ञान योगशक्ति से अनुभूत होता है और विज्ञान योग का पुरक होता है। इससे स्पष्ट है कि जो सिद्ध (परिपूर्ण) योगी होता है, उसकी सामर्थ्य की कोई सीमा नहीं होती है। अत: परमेश्वर पूर्ण योगी है, जो इस पराशक्ति से सम्यक् विज्ञानी हैं। तभी शैवाचार्य उत्पलदेव अपने गुरु सिद्ध सोमानन्द की प्रसिद्ध रचना शिवदृष्टि की वृत्ति में इस तथ्य का उद्घाटन करते हुये कहते हैं कि जो निर्मल अन्त:करण होकर ब्रह्मशक्ति के साथ जितनी मात्रा में (एकाग्र, concentrate, unified) होता है, उतनी ही मात्रा में इस शक्ति का स्फुरण अनुभव करता है।[3] सिद्ध वसुगुप्त स्पन्दकारिका में इसी तथ्य को अभिव्यक्त करते हुये कहते हैं कि इस आत्मशक्ति के बल के स्पर्श साधक

---

1. "दृष्टश्च लोके तृणराशिनिक्षिप्तस्य वह्निकणस्य क्षणादेव प्रकृत्यापूरेण गगनव्यापी परिणामविशेष इति। एतेन वामनाद्यवतारादीनां क्षणादेव त्रिभुवनव्यापित्वविश्वरूपादिकं मार्कण्डेयादिभ्यो विष्णुना मायाप्रदर्शनं च प्रकृत्यापूरेण तडिन्मालायामिव क्षणभंगुरेणेति व्याख्यातम्। अगस्त्यादीनां समुद्रपानादिकं च तोयादिप्रकृत्यपसारणेनेति दिभिर्जगदन्यथयितुमुत्पादयितुं च परमेश्वर: सङ्कल्पमात्रेण शक्नोति, सूक्ष्मदृष्ट्या तु प्रतिक्षणं तथा करोत्येवेति पश्यन्तु योगिनी भगवन्नृत्यमिति" – पा॰यो॰सू॰, योगवार्त्तिके॰, 4/2
2. "जात्यन्तरपरिणाम: प्रकृत्यापूरात्" – पा॰यो॰सू॰, 4/2
3. "यावत्या च मात्रया समावेशस्तावन्मात्रसिद्धिसम्भव:।
प्रथमस्तावत् कर्तृनानुसारी ज्ञानक्रियायोग:।।" – शि॰दृ॰वृ॰, 1/1, पृ॰ 3

(जीव) तद्रूप (शिव-शक्ति तुल्य) हो जाता है।[1] इसी को 'ऐश्वरी प्रवृत्ति' की अभिव्यक्ति कहते हैं।[2] शिवसूत्रों में स्वात्मशक्ति के ज्ञान से शिव समान होने की पुष्टि की गई है।[3] शिवसुत्र विमर्शिनी में राजानक क्षेमराज कहते हैं कि शाक्तबल सफुरण के प्रकर्ष से परामृत हृदात्मक शाम्भव दशा को आत्मसात् किये हृये योगी अपने चैतन्य अंश से अभीष्ट वस्तु के निर्माण के योग्य हो जाता है।[4] बह्वृचोपनिषद् के अनुसार महात्रिपुरसुन्दरीशक्ति सर्वात्मक है।[5] अतः जगत् शक्तिरूप ही है अर्थात् सब कुछ शक्ति निर्मित है।[6] अतएव चराचर विश्व शक्ति का स्फार रूप ही है।[7]

इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण प्रकृति को ब्रह्मस्वरूपिणी कहकर सब की, योनि (मूल स्रोत) बहतलाते हैं।[8] त्रिपुरा उपनिषद् में भी शक्ति को 'विश्वयोनि' कहा गया है।[9] बृहदारण्यक उपनिषद् अनुसार इसीलिये परमसत्ता (पराशक्ति) सर्वात्मक है, अतएव सब कुछ बन जाती है।[10] छान्दोग्योपनिषद् भी समस्त जगत् को आत्मशक्ति का रूप मानती है।[11] इसी रहस्य को ऋग्वेद भी अभिव्यक्त करता हुआ कहता है कि इन्द्र (ब्रह्मशक्ति) माया (शक्ति) द्वारा विश्वरूप धारण करता है।[12] अतएव चराचर जगत् में जितने भी रूप हैं, वे सभी एक ही सर्वबीजरूपा पराशक्ति के ही हैं।[13] भौतिक जगत् में स्थूलदृष्टि से तो यही देखा जाता है कि आम्र बीज से आम्र की ही उत्पत्ति होती है, परन्तु योग की सूक्ष्म दृष्टि से यह परिज्ञात होता है कि शक्ति के सर्वबीजरूपा होने से किसी भी भाव से कुछ भी उत्पन्न किया जा सकता है। अहिर्बुध्न्यासंहिता में कहा गया है कि सभी भावों में विद्यामान शक्ति के विविधरूप अचिन्त्य (Beyond the

---

1. "अपि त्वात्मबलस्पर्शात्पुरुषस्तत्समो भवेत्" – स्प०का०, 1/8
2. "तभान्यत्रोक्तम् ऐश्वरी प्रवृत्तिः" – इति – शि०दृ०वृ०, पृ० 3
3. 'शिवतुल्यो जायते' – शि०सू०, 3/25
4. "शाक्तबलासादनप्रकर्षाद् आत्मीकृतपरामृतहृदात्मकशाम्भवपदो योगी–'स्वमात्रानिर्माणमापादयति'– यथेष्टवेद्यवेदकाव- भासात्मकं निर्माणमापादयति" – शि०सू०वि०, 3/17
5. "तदेतत् सर्वाकारा महात्रिपुरसुन्दरी। त्वं चाहं च सर्वं विश्वं सर्वदेवता" – बह्वृ०उप०, 5
6. "सर्वं शाक्तमजीजनत्" – बह्वृ०उप०, 2
7. "स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्" – शि०सू०, 3/30
8. "मम योनिर्महद्ब्रह्म" – भ०गी०, 14/3
9. "शक्तिरजरा विश्वयोनिः" – त्रि०उप०, 14
10. "स इदं सर्वं भवति" – बहद्०उप०, 1/4/10
11. "आत्मैवेदं सर्वम्" – छां०उप०, 7/15/2
12. "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" – ऋ०वे०, 6/47/18
13. "स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा।
शतं दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः।।" – छां०उप०, 7/26/2

purview of mind) होने पर भी उनमे अभिन्नरून से अवस्थित रहते हैं। वे अव्यक्त होने से दिखाई नहीं देते हैं, परन्तु योग अथवा विज्ञान के उपयोग से उनको कार्यान्वित किया जा सकता है, क्योकि विश्वयोनि शक्ति अतिसूक्ष्म रूप में सभी पदार्थों में विद्यमान होती है।[1] देवीभागवत अनुसार चन्द्रमा में अनुस्यूत चाँदनी की भाँति सभी भावों में शक्ति विद्यमान रहती है।[2] महानिर्वाण तन्त्र में कहा गया है कि यही पराशक्ति अपनी माया से बहुविध साकार रूप धारण करती है और निराकार रूप से भी भासित होती है। यही सब की आदि (मूल) होते हुये स्वयं अनादि है। ब्रह्मा (रजोगुण) रूप में सब की कर्त्री, विष्णु (सत्त्वगुण) रूप में पालिका तथा शिवय (तमोगुण) रूप में सब की हर्त्री भी है।[3] देवि भागवत भी शक्ति को ब्रह्म और सर्वगत, सर्वरूप बतलाती है।[4] ब्रह्मा की सृष्टि शक्ति, हरि की पालन शक्ति, शिव की संहार शक्ति, सूर्य की प्रकाशन शक्ति, शेष, कूर्म एवं पृथिवी की धारण शक्ति, अग्नि में दहन शक्ति, वायु की प्रेरणा (स्पन्दन) शक्ति के रूप में आद्या शक्ति ही परिणत होकर सर्वत्र विद्यमान हैं। शिव भी शक्ति के बिना शव है। अतएव शक्तिके बिना किसी की भी सत्ता ही नहीं है।[5] आद्यगुरु शङ्कराचार्य

---

1. "शक्त्यः सर्वभावानामचिन्त्या अपृथक् स्थिताः।
स्वरूपे नैव दृश्यन्ते दृश्यन्ते कार्यतस्तु ताः।।
सूक्ष्मावस्था हि सा तासां सर्वभावानुगामिनी।" – अ॰ब॰सं॰, शाक्तदर्शनम्, पृ॰ 81
2. "सर्वभावानुगा शक्तिर्ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः" – दे॰भा॰, 3/4
3. "साकाराऽपि निराकारा मायया बहुरूपिणी।
त्वं सर्वादिरनादिस्त्वं कर्त्री हर्त्री च पालिका।।" – म॰नि॰तं॰, 4/34
4. (क) "एवं सर्वगता शक्तिः सा ब्रह्मेति विविधच्यते।
सोपास्या विविधैः सम्यग् विचार्य सुधिया सदा।।
विष्णौ च सात्त्विकी शक्तिस्तया हीनोऽप्यकर्मकृत्।
द्रुहिणे राजसी शक्तिर्यया हीनो ह्यसृष्टिकृत्।।
शिवे च तामसी शक्तिस्तया संहारकारकः।
इत्यूह्यं मनसा सर्वं विचार्य च पुनः पुनः।।
शक्तिः करोति ब्रह्माण्डं सा वै पालयतेऽखिलम्।
इच्छया संहरत्येषा जगदेतच्चराचरम्।।" – दे॰भा॰, 1/8/34-37
(ख) "तदात्मस्वरूपं संवित् परं ब्रह्मैकनामकम" – दे॰भा॰, 7-32
5. "विद्वांसोऽपि वदन्त्येवं पुराणैरपि गीयते।
द्रुहिणे सृष्टिशक्तिश्च हरो पालनशक्तिता।।
शिवे संहारशक्तिश्च सूर्ये शक्तिः प्रकाशिकाः।
धराधारणशक्तिश्च शेषे कूर्मे तथैव च।।
साऽऽद्याशक्तिः परिणता सर्वत्र या प्रतिष्ठता।
दाहशक्तिस्तथा वह्नौ समीरे प्रेरणात्मिका।
शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।
शक्तिहीनस्तु यः कश्चिदसमर्थः स्मृतो बुधैः।।" – दे॰भा॰, 1/8/28-31

भी सौन्दर्य लहरी में यह सत्य अद्‌घोषित करते है।[1] पञ्चदशीकार स्वामी विद्यारण्य भी मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को उस रूप में नियमित रखने वाली शक्ति ही होती है, अन्यथा उसकी सत्ता ही सम्भव नहीं हो सकती।[2]

दुर्गा सप्तशती अनुसार मूलरूप में यह शक्ति एक ही है और इसी के नानाविध रूप, रङ्ग, आकार एवं नामादि कार्यभेद अनुसार हो जाते हैं।[3] अभिनवगुप्त अनुसार यह मुल शक्ति से अन्य शक्तियों का भेद मात्र औपाधिक ही है, परमार्थतः नहीं। भिन्नता शक्ति के प्रभावों के वैविध्य के कारण दिखाई देती है, जैसे अग्नि की दाह्य और पाक शक्ति में प्रकल्पित है।[4] इसीलिये वाक्यपदीय में कहा गया है कि यह निश्चित् है कि सब का सारभूत शक्ति ही है और वह एक ही है। अतः भावों की आत्मशक्ति की भेद कल्पना निरर्थक है।[5] वह सभी शक्तियों की शक्ति एवं सभी गुणों (धर्मों) की गुण (धर्म) है।[6] आज का विज्ञान भी इस शक्ति को Power, Force, Energy आदि नामों से मानता है और Heat, Sound, Light आदि इसके विविधरूपों का मूल एक Universal Energy अथवा Solar Energy के रूप में मानने लगा है। जैसे एक ही electricity विविध उपकरणों Heater, Fridge, Fan, AC, Bulb आदि के उष्णता, शीतता, हवा एवं शैत्य, प्रकाश आदि परस्पर विरोधी कार्य करती है। इसी प्रकार आज विज्ञान यह भी मानता है कि 'Matter can not be created or destroyed' अर्थात् भाव (पदार्थ) को न तो उत्पन्न किया जा सकता है और न ही नष्ट किया जा सकता है। केवल इसके रूप-रङ्ग-आकार में परिवर्तन होता है, जैसे बर्फ (ठोस), जल (तरल), वाष्प (भाप, गैस)। परन्तु इस ठोस, तरल और गैस रूप का कारण force of Attraction (आकर्षण शक्ति) की मात्रा तारतम्यता को ही माना जाता है। अवयव (अणु, Atom) का घनिष्ठ संयोग से ठोस (Solid), कम घनिष्ठता से तरल (Liquid) और बिल्कुल कम घनिष्ठ संयोग से गैस (Gas) रूप माना जाता है, जिसमें अवयव संयोग अथवा दुराव की मुख्य भूमिका होती है। त्रिशिरो

---

1. "शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं, न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि, प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति।।" – सौ०ल०, 1
2. "वस्तुधर्मा नियम्येरन् शक्त्या नैव यदा तदा।
अन्योन्यधर्मसाङ्कर्यादविप्लवेत् जगत्खलु।।" – पं०द०, 3/39
3. "एकोऽहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्य मूढ मय्यैव विशन्त्यो मद्विभूतयः।।" – दु०स०, 10/5
4. "मातृक्लृप्ते हि देवस्य तत्र तत्र वपुष्यलम्।
को भेदो वस्तुतो वह्नेद्रग्धृपक्तृत्वयोरिवः।।" – तं०आ०, 1/110
5. "सर्वं शक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णयः।
भानामात्मभेदस्य कल्पना स्यादनर्थिका।।" – वा०प०, 3/1/22
6. "शक्तीनामपि सा शक्तिर्गुणानामप्यसौ गुणः" – वा०प०, 3/5

भैरव में इस शरीर को सर्वदेवमय कहकर इसके ठोसत्व (कठिनत्व) को 'पृथिवी' और द्रवत्व को 'जल' संज्ञित किया गया है। इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व को एक त्रिशिरो भैरव शक्ति ही व्याप्त करके व्यवस्थित है।[1] इसीलिये स्पन्दशास्त्र में जीव को सर्वमय कहा गया है और शब्द, अर्थ, चिन्तन की प्रत्येक दशा को शिवशक्तिमयी माना गया है।[2] इसीलिये योगवासिष्ठ अवयव (अणु अथवा परमाणु) के संयोगनाश को द्रव्य (पदार्थ, Matter) का नाश नहीं मानता है।[3] अपितु श्वेताश्वतरोपनिषद् अनुसार तृण, अरणि, मणि आदि की तरह अग्नि के अव्यक्त हो जाने जैसा हो जाता है।[4] महाभारत अनुसार अव्यक्त (अदर्शन) से व्यक्त (दर्शन) और दर्शन (व्यक्त) से अदर्शन (अव्यक्त) रूप में भाव-अभाव का प्रकृति शक्ति का परिवर्तन खेल स्वाभाविक रूप से चलता रहता है।[5] जैसे सूर्यकान्त मणि में अव्यक्त तेज सूर्य-किरण के स्पर्श से व्यक्त हो जाता है, वैसे ही शान्ति प्रधान तपोवन में दाहात्मक तेज अव्यक्त दशा में रहता है–ऐसा कालिदास ने भी अभिज्ञानशाकुन्तल में उक्त तथ्य समर्थित किया है।[6] मध्यकालीन सन्त भी–जो ब्रह्माण्ड में है, वह अण्ड में भी है–ऐसा उद्घोष करते आये हैं।[7] अतएव निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सर्वशक्तिमय होने से सब शक्तिरूप हैं। चूँकि शैवागम शिवसूत्रों के अनुसार शक्ति चेतन्यरूप है[8], जैसा कि मृत्युजित[9] (मृत्युञ्जय, नेत्रतन्त्र) एवं विज्ञानभैरव[10] आदि में भी माना गया है, अतएव शक्ति विस्फार रूप विश्व[11] का प्रत्यभिज्ञाहृदय अनुसार कारण और कार्यभाव परमार्थ है अर्थात् उसमें कोई क्रम नहीं।[12] वह जगत् उत्पत्ति में स्वतन्त्र[13] है और स्वयं को ही

---

1. "सर्वदेवमयः कायस्तं चेदानीं शृणु प्रिये।
पृथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेऽभ्यः प्रकीर्तितम्।।"
इत्युपक्रम्य–"त्रिशिरोभैरवः साक्षाद्व्याप्य विश्वं व्यवस्थितः" – त्रिशिरोभैरवमते – शि॰सू॰वि॰, सू॰ 4
2. "यस्मात्सर्वमयो जीवः" .... 'तेन शब्दार्थचिन्तासु च सावस्था न यः शिवः' – स्प॰का॰, 2/3-4
3. "तस्माद् अवयवसंयोगनाशो न द्रव्यहेतुः, किं तु वह्न्यादौ तृणारणिमण्यादिवत्" – यो॰व॰, 3/13
4. "वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः" – श्वेत॰उप॰, 1/13
5. "अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः" – म॰भा॰,
6. "शमप्रधानेषु तपोवनेषु गूढं हि ग्रहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला अपि सूर्यकान्ताः स्वकीयतेजोऽभिभवाद् दहन्ति।।" – अ॰शा॰, 2/27
7. "यो ब्रह्माण्डे सो अण्डे" – सन्त
8. "चैतन्यमात्मा" – शि॰सू॰, 1/1
9. "चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु पठ्यते" – मृ॰भ॰ (ने॰तं॰), 8/28
10. "चिद्धर्मा सर्वदेहेषु विशेषो नास्ति कुत्रचित्" – वि॰भै॰, श्लो॰ – 100
11. "स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्" – शि॰सू॰, 3/30
12. "चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति,
इत्येतावत्परमार्थोऽयं कार्यकारणभावः" – प्र॰हृ॰टी॰, सू॰ 1
13. "चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः" – प्र॰हृ॰, सू॰ 1

सब का आधार भी बनाती है।[1] अतः जगत् भी चिन्मय ही है, जड़ नहीं।[2] किसी भी वस्तु या तत्त्वतः नाश (Annihilation) नहीं होता है, केवल रूपान्तर होता है। न केवल योग से ही किसी भी वस्तु का किसी भी वस्तु से प्राकट्य किया जा सकता है, प्रत्युत् वैज्ञानिक प्रक्रिया से भी ऐसा सम्भव है। इसमें विज्ञान अथवा योग मात्र रूपान्तिरण प्रक्रिया से निमित्त (सहायक) बनता है, प्रयोजक नहीं। किसी भी रूप में परिवर्तित अथवा व्यक्त होने की सामर्थ्य प्रकृति शक्ति में स्वयं है, स्वाभाविक है। इसीलिये जन्म, औषधि, मन्त्र, तप, समाधि[3] अथवा वैज्ञानिक प्रक्रिया केवल आवरण को दूर करने में सहायक होते हैं।[4] वस्तु सर्वरूप शक्तिमय होने से किसी भी रूप में व्यक्त-अव्यक्त होने में समर्थ है केवल शक्ति विज्ञान होना चाहिये, जिससे इहलौकिक एवं पारलौकिक पारमार्थिक आनन्द की प्राप्ति सम्भव हो जाती है। ब्रह्माण्डपुराण के ललितोपाख्यान में भी कहा गया है कि जगत् की एक ही शक्ति है, माता अर्थात् जननी (मूलस्रोत) है[5] और उसके साथ ऐक्य विज्ञान (शक्ति विज्ञान) सर्वसिद्धि प्रदायक होता है।[6] क्योंकि शक्ति तो स्वाभाविक रूप से सर्वतः सब में प्रकाशित हो रही है।[7]

---

1. "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति" – प्र०ह०, सू० 2
2. "परमस्याश्चिच्छक्तेरेव परिणामो जगदित्युच्यते। परन्तु जगदाकारेणैव चिच्छक्तिः परिणतेति। अतएव चिन्मयं जगन्न जड़मिति" – शाक्त दर्शनम्, पृ० 5
3. "जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः" – पा०यो०सू०, 4/1
4. "निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्" – पा०यो०सू०, 4/3
5. "नमस्ते जगदेकमातः" – ब्र०पु०, ल०उपा०, 1/1
6. "आत्मैक्येनैव यज्ज्ञानं सर्वसिद्धिप्रदायकम्" – ब्र०पु०, ल०उपा०, 1/27
7. "शक्तिस्तु सर्वतो भाति संसारस्य स्वभावतः" – ब्र०पु०, ल०उपा०, 1/60

ज्योतिर्विज्ञानं महाभारतञ्च

–डॉ. पुरुषोत्तम शर्मा
प्राध्यापकः स्नातकोत्तर संस्कृतविभागः,
जम्मू विश्वविद्यालयः

वेदस्य हि षट्स्वङ्गेषु ज्योतिषमन्यतममिति तु भवन्तः सुसम्यक् प्रकारेण जानन्त्येव। ज्योतिषं तु वेदपुरुषस्य चक्षुरूपेण स्मर्यते –

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।[1]

भास्कराचार्यैरपि यथोक्तम् –

वेद चक्षुः किलेदं स्मृतं ज्योतिषं मुख्यता चाङ्गमध्येऽस्य तेनोच्यते।
संयुतोऽपीतरैः कर्णनासादिभिः चक्षुषाङ्गेन हीनो न किञ्चित्करः।।

ततो सर्वेषु वेदाङ्गेषु प्राधान्येन अधिकृतस्य यज्ज्योतिषं तस्य हि लगधमुनेर्वेदाङ्गज्योतिषम्प्रधानो ग्रन्थः वसिष्ठकाश्यपपराशरगर्गनारदादिप्रोक्ता मौलिकाः संहिताग्रन्थाश्च। वेदाङ्गज्योतिषस्य हि चत्वारो भेदाः ऋग्ज्योतिषं यजुर्ज्योतिषं सामज्योतिषमथर्वज्योतिषञ्चेति। एतेषां ग्रन्थानामुपदेष्टा लगधो नाम मुनिरुच्यते। अतः संस्कृतसाहित्यान्तरस्येव ज्योतिर्विज्ञानस्योत्पत्तिरपि ब्रह्मण एवाभूदिति सर्वथा विश्वस्यते। ब्रह्मा हि पितामहोऽस्य जगतः चतुर्भ्यो मुखेभ्यश्चतुर् एव वेदान् यज्ञसाधननिमित्तं प्राबोचत्। यथा –

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद सवेद यज्ञम्।। तथा च

वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद् वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात्।।[2]
तथा च

---

1. वेदाङ्गज्योतिष श्लोक 3
2. सिद्धान्त शिरोमणि

प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम्।
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनाम्।।[1]

तेन हि वेदानां यज्ञात्मकत्वम्। ते च यज्ञाः कालाश्रयेणैव सिद्धयन्ति इति तत्सिद्धयर्थं ब्रह्मा कालावबोधकं ज्योतिर्विज्ञानं विनिर्माय नारदाय प्रोवाच। नारदश्च अस्य शास्त्रस्य महत्त्वं स्वीकृत्य लोके प्रवर्तयामास। अन्यमतानुसारेणेदं ज्यौतिषशास्त्रं प्रथमं तावत् सूर्येण मयासुराय प्रोक्तम्। तदनन्तरं च जगति प्रवर्तितमिति। कश्यपसंहितानुसारेण अष्टादश आचार्याः ज्योतिः शास्त्रप्रवर्तका सन्ति। यथा—

सूर्यः पितामहो व्यासो वसिष्ठोऽत्रिः पराशरः।
कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मनुरङ्गिराः।।
रोमशः पौलिशश्चैवच्यवनो यवनो भृगुः।
शौनकोऽष्टादशाश्चैते ज्योतिः शास्त्र प्रवर्तकाः।[2]

महिर्षपराशरस्तु तानित्थमाह —

विश्वसृङ् नारदो व्यासो वसिष्ठोऽत्रिः पराशरः।
लोमशो यवनः सूर्यश्च्यवनः कश्यपो भृगुः।।
पुलस्त्यो मनुराचार्यः पौलिशः शौनकोऽङ्गिराः।
गर्गो मरीचिरित्येते ज्ञेया ज्योतिः शास्त्र प्रवर्तकाः।।

यथाऽऽह ज्योतिशास्त्रस्योत्पत्तिः विषये गर्गाचार्यः —

स्वयं स्वयम्भुवा सृष्टं चक्षुर्भूतं द्विजन्मनाम्, वेदाङ्ग ज्योतिषं
ब्रह्मपरं यज्ञहितावहम्। मया स्वयम्भुवः प्राप्तं क्रियाकालप्रसाधनम्।।

अनेन ज्ञायते यच्छास्त्रमिदं यज्ञप्रवर्तनाय सर्वप्रथमं ब्रह्मणा सृष्टम्। तच्च शिष्यपरम्परया बुधैर्गृहीतम्। तदेव आर्यभटेन विवेचितं वराहमिहिरप्रभृतिभिः प्रकाशितम्। तस्मात्कारणादेव वराहमिहिरः कथयति। यथा—

प्रथमं मुनिकथितमवितथमवलोक्य ग्रन्थविस्तरस्यार्थम्।
नातिलघुविपुलरचनाभिरुद्यतः स्पष्टमभिधातुम्।।

शास्त्रमिदं सिद्धान्त-संहिता होराभेदन त्रिषु स्कन्धेषु विभक्तमिति त्रिस्कन्धज्योतिषशब्देनापि ज्ञायते। तथैव तत्र कैरलिः शकुनश्चेति दौ भेदौ संयोज्येदं पञ्चस्कन्धमप्युच्यते। अस्मिन्कालविधानशास्त्रविषये यथाऽऽह वराहमिहिरः—

1. आर्चज्योतिष, श्लोक 2
2. कश्यपसंहिता, पृ॰ 13

ज्योतिः शास्त्रमनेकभेद विषयं स्कन्धत्रयाधिष्ठितं
तत्कात्स्न्योंपनयस्य नाम मुनिभिः सङ्कीर्त्यते संहिता।
स्कन्धेऽस्मिन् गणितेन या ग्रहगतिस्तन्त्राभिधानस्त्वसौ
होराऽन्योऽङ्गविनिमयश्च कथितः स्कन्धस्तृतीयोऽपरः।।[1]

इत्थं ज्योतिषशास्त्रस्य त्रयः एव मुख्यविभागाः — (1) तन्त्रम्, (2) संहिता, (3) होरा च। तन्त्रं सिद्धान्तस्यापरपर्यायम्। गणितशब्देनाप्यभिधीयते इदम्। इदं हि ग्रहगतिसम्बद्धम्। तन्त्रस्य विवेचनीयविषयाः यथा मध्यगतिः तिथिनक्षत्रच्छेदः स्फुटगति त्रिप्रश्नः चन्द्रसूर्यग्रहणे उदयास्तमयौ शृङ्गोन्नतिः समागमः ताराग्रहसंयोगश्च। ग्रहाणां गतौ वक्रत्वमनुवक्रत्वञ्च विवेच्यते। यथा—

त्रुटयादिप्रलयान्तकालगणना मानप्रभेदः क्रमाच्चारश्च
द्युषदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा सोत्तराः।
भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितैश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते
सिद्धान्तः स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधैः।।

अस्य ज्योतिर्विज्ञानस्य पृथक् शास्त्रत्वेनाविर्भावोऽपिशास्त्रान्तरसमकालिक एव। वैदिक संहितासु तत्र तत्रोपवर्णितं ज्योतिर्विज्ञानविषयमादाय लगधनाम्ना मुनिना निर्मितो वेदाङ्गज्योतिषाख्यो ग्रन्थ एव विषयेऽस्मिन् प्रथम एव। ग्रन्थकर्तृषु विज्ञानेऽस्मिन् लगधात्परं आर्यभट्टः-लल्ल-ब्रह्मगुप्त-श्रीपति-भास्कराचार्य मुनीश्वर-ज्ञानराज-कमलाकरभट्टाः-श्रीधरवटेश्वर-मुञ्जालादयश्च प्राधान्येन स्मर्यन्ते। तत्रज्योतिर्विज्ञानस्य सर्वप्रथम ऐतिहासिक आचार्य आर्यभट्टो बभूव। स त्रयोविंशतिवर्षीय एव 'आर्यभटीयम्' प्रणीतवान्। स तु सर्वेषां पौरस्त्य-पाश्चात्य विदुषां ज्योतिर्विज्ञानपद्धतिं पर्यालोच्य स्वप्रतिभाबलेन समुन्नतं शास्त्रं विरचितवान्। आर्यभटेन संख्यानां वर्गमूलघनमूलादिज्ञानाय दशमिकसङ्केतविधिः प्रयुक्तः। आर्यभट्टः सर्वप्रथममस्योल्लेखं करोति—

एकं दशं च शतं च सहस्रमयुते तथा प्रयुक्तम्।
कोट्यर्वुदं च वृन्दं स्थानात्स्थानं दशगुणं स्यात्।।

खीष्टस्य द्वादशशतके भास्कराचार्यः पृथिव्या गोलत्वमाकर्षणशक्तिं च प्रमाणयन् लिखति यथा—

समो यतः स्यात्परिधेः शतांशः पृथ्वी च पृथ्वी नितरां तनीयान्।
नरस्य तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना समेव तस्य प्रतिभात्यतः सा।।
आकृष्टशक्तिश्च महीतया यत् स्वस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्यः।
आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे।।

---

1. वराहमिहिर

तदेव पृथिव्या आकर्षणं न्यूटनमहोदयेन षट्शताब्द्यां पश्चात् विज्ञातम्। यतो हि द्वादशशतके भास्कराचार्यो गणितशास्त्रस्य महत्त्वपूर्णाकरग्रन्थसिद्धान्तशिरोमणिं प्रणीतवान्।

संहिताऽस्य द्वितीयस्कन्धः। वस्तुतस्तु सर्वेषामेव स्कन्धानां संक्षेपेण विवेचनात् हि संहितायाः संहितात्वम्। तस्मात्कारणादेव "संहितापारगो दैवचिन्तको भवतीति" निगदितं वर्तते। अत्र हि सांवत्सरसूत्रं, ग्रहयुतिः, ग्रहचारः, वर्षफलं, गर्भविवेकः, उल्काविवेकः, शृङ्गाटकं प्रतिवर्षकृत्यं लक्षणानि वास्तु, शकुनविचारः, वृक्षायुर्वेदः तिथ्यादिफलं ग्रहगोचरश्चैव-माद्या साङ्गोपाङ्गप्रतिपाद्यविषयाः। होरास्कन्धो हि जातकसम्बद्धः। अत्र राशिप्रभेदः, ग्रह योनिः, आधानं अश्विन्यादिनक्षत्रविवेकः, सम्बत्सरादिफलं, मासफलं, ग्रहस्थितिफलं, आयुर्दाय, अरिष्टविचारः, अरिष्टभङ्गविचारः, ग्रहदृष्टिफलं राजयोगादि च होरास्कन्धे विवेच्यन्ते। स्कन्धोऽयं जातक-प्रश्न-मुहूर्त्तनिमित्तेति चतुरङ्गैरूपबृंहितः। अतः सर्वेषु ग्रन्थेषु प्राधान्येन अधिकृतस्य ज्योतिषशास्त्रस्य प्रथमं तावत् स्वरूपं निरूप्यते मया। द्योत्यन्ते प्रकाश्यन्ते वेदोपहिता निखिलभावा अनेनेति द्योतनं, ज्योतनं वा ज्योतिः। "ज्योतिषां ग्रहनक्षत्राणां गतिमधिकृत्य कृतं शास्त्रम्" अथवा "ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रम्"। अतः यानि हि तेजोमयानि बिम्बानिअपरिमिते आकाशमण्डले दरीदृश्यन्ते, तानि सर्वाणि एव समष्टया ज्योतिः शब्देनोच्यन्ते। तेष्वपि यानि हि सदैकरुपगतीनि तानि नक्षत्रशब्देन ज्ञायन्ते। प्रतिदिनं भिन्न भिन्न गतीनि तु ग्रहशब्देन तेष्वपि पुनः केचिदमृतमयरश्मयः, केचिद्विषमयरश्मयः केचिदुभयमिश्ररश्मयः, केचित्तूभयधर्महीनरश्मयश्च कथिताः विद्वद्भिः। एवं विधनक्षत्रग्रह तारकादिज्योतिः पिण्डानां स्थितिगतिप्रभावादिवर्णनपरं शास्त्रमेव ज्योतिर्विज्ञानपदेनाभिधीयते। यथोक्तं लगधमुनिनाऽपि–

यथाशिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि स्थितम्।।[1]

ज्योतिर्विज्ञानमपि शास्त्रान्तरवत्कतिपया दशा अतिक्रम्य साम्प्रतिकां अवस्थां प्राप्तं दरीदृश्यते। मानवजिज्ञासा हि मानवस्य मौलिकप्रवृत्तिष्वन्यतमा अस्ति। आदिममानवेन आकाशस्य प्रयोगशालायां जिज्ञासया ग्रह-नक्षत्र-राशि ताराणाञ्च निजकुशलचर्मचक्षुषा पर्यवेक्षणं कृतम् तथा ज्योतिषसम्बन्धिः रहस्योद्घाटनं कृतम्। यतो हि ग्रहनक्षत्रराशितारा-विषयकजिज्ञासैव ज्योतिषशास्त्रस्याविर्भावे कारणम्। यथा मानवः पातुमिच्छति, भोक्तुमिच्छति, रन्तुमिच्छति, आत्मानं प्रकटयितुमिच्छति तथैव स निजं परञ्च ज्ञातुमिच्छति। पशुवदपि मानवोऽनादिकालादेव रात्रिदिवसादिविषये स्वल्पमपि जानाति स्म। स सूर्य चन्द्रमसौ नक्षत्राणि, तारा, ग्रहान् अवलोक्य निश्चितरूपेण तेषां वैशिष्टयं नैव जानाति स्म। तथापि तदवस्थितिमवलोक्य यतिकञ्चिदपि चिन्तनं मननं च अवश्यमेव करोति स्म।

---

1. वेदाङ्गज्योतिष॰ 4

तदेव मननं चिन्तनं अनुभवोपचितं वैदिकसंहितासु वैदिकग्रन्थेषु च प्रस्फुटितं अवलोक्यते तदनन्तरं नवनव नु भवसंयोजनपूर्वकं लौकिकग्रन्थेष्वपि दृश्यते।

इदानीं प्रश्नैष नो दृष्टिपथमायाति यत् बहवो ज्योतिषसम्बद्धप्रसङ्गाः रामायणे महाभारतादौ अपि स्मृता उपलभ्यन्ते। महर्षिबाल्मीकिरामायणे तु ज्योतिषस्य अतिसूक्ष्मरूपं मुहूर्त्तादिकमपि अधिकृत्य प्रासङ्गिकं वर्णनं दरीदृश्यते। महाभारतं तु भारतीय परम्परायाः अगाधसागराः साक्षात् विश्वकोष एव। यतो हि "यदिहाऽस्ति तदन्यत्र, यन्नेहाऽस्ति न कुत्रचिदिति" इति वचनस्य निदर्शनं तु महाभारतमेव भवितुमर्हति। अतः महाभारते ज्योतिषविषयोऽपि बहूत्र प्रस्तुतो दृश्यते। विद्वांसः महाभारतस्य त्रीणि स्वरूपाणि अनुमीयन्ते। प्रथमं तावत् जयो नामेतिहासः, द्वितीयं तु भारतं नामाख्यानम्, तृतीयं लक्षश्लोकात्मकं महाभारतम्। अस्य ग्रन्थस्य वाचनान्यपि तावन्त्येव सन्ति प्रथमं व्यासेन वैशम्पायनाय श्रावितम्, द्वितीयं वैशम्पायनेन जनमेजयाय पाठितम्, तृतीयं तु सौतिना शौनकादिभ्यः कथितम्। महाभारते सप्तवाराणां नामानि तु न अवलोक्यन्ते परं वारशब्दः बहुत्र पर्यायार्थे प्रयुक्तो दरीदृश्यते। यथा–

एकैकश्चापि पुरुषस्तत्प्रयच्छति भोजनम्।
स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्य सुकरौ नरैः।।[1]

नक्षत्रगणनाक्रमविषये महाभारते बहुनिगदितं वर्तते यथा –

अभिजित् स्पर्धमाना तु रोहिण्याः कन्यसी स्वसा।
इच्छन्तीं ज्येष्ठतां देवी तपस्तप्तुं वनं ययौ।।
तत्र मूढोऽस्मि भद्रं ते नक्षत्रगगनाच्युतम्।
कालं त्विमं परं स्कन्द ब्रह्मणा सह चिन्तये।।
धनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिकल्पितः।
रोहिणी ह्यमवत्पूर्वमेवं सङ्ख्या समाऽभवत्।।
एवमुक्ते तु शक्रेण कृत्तिका त्रिदिवं गता।
नक्षत्रं सप्तशीर्षाभं भाति तद्वह्निदेवतम्।।[2]

आदौ हि अभिजितनक्षत्रमधिकृत्य नक्षत्रसङ्ख्या सप्तविंशतिरासीत्। कालक्रमेण अभिजित् निस्तेजाः समपद्यत। ततो नक्षत्रसङ्ख्या परिपूरणाय कृत्तिका गृहीता। पूर्वं तावत् नक्षत्रगणनां रोहिणीक्रमेण आसीत्। तत्पश्चात् धनिष्ठाक्रमेणेति। यथा नीलकण्ठेन व्याख्यातम्–'यस्य नक्षत्रस्या ह्यक्षणे चन्द्रसूर्यगुरुणां योगस्तद्युगादिनक्षत्रम्। अस्मिन् विषये शङ्करबालकृष्णो यथा–'अभिजिन्नक्षत्रस्य शराः 61 अंशाः उत्तरतः। सम्पातगतिजनितनक्षत्र–

1. महा॰ 160/7
2. महा॰ वनपर्व 7–1

मण्डलभ्रमणे कदाचिदभिजिद् ध्रुवस्थानमायाति। तदा वृत्ते षड्विंशतिरेव नक्षत्राणि अवशिष्यन्ते इयं घटना त्रयोदशसहस्त्रवर्षं पूर्वं घटिता सम्भवति यतो हि पश्चात्यगणका अपि तथा मन्यन्ते। अश्वमेघपर्वणि यथा–

अहः पूर्वं ततो रात्रिर्मासाः शुक्लादयः स्मृताः।
श्रवणादीनि ऋक्षाणि ऋतवः शिशिरादयः।।[1]

आदिपर्वणि यथा –

चकारान्यच्च लोकं वै क्रुद्धो नक्षत्रसम्पदा।
प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः।।[2]

महाभारते कृत्तिकारम्भाणि नक्षत्राणि सन्ति। अधुना नक्षत्रसम्बन्धे महाभारतगतानि कानिचिद्वचनानि उद्ध्रियन्ते यथा –

"विशाखयोर्मध्यगतः शशी यथा।"[3] "चन्द्रस्येव पुनर्वसू।"[4] "अन्वधावन्मृगं रामोरुद्रस्तारामृगं यथा।"[5] "पञ्चतारेण संयुक्तः सवित्रेण चन्द्रमाः।"[6]

एवमेव महाभारते सप्तर्ष्यरुन्धत्यगस्त्यादितारका अपि स्मृताः। योगकरणादीनां च न तत्रोल्लेखः वर्तते। महाभारते ऋत्वयनमासतिथ्यादीनामनेकत्रोल्लेखो विद्यते। यथा–

कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे।
स्फीतसस्यमुखे काले कल्पः सत्यवतां वरः।।[7]

कार्तिके मासे रेवत्यां शुक्लपक्षद्वादश्यां शरदः समाप्तिर्हेमन्तस्यारम्भ इति। एतेन महाभारतसमये वसन्तो हिं चैत्र वैशाखयोरेवेति सिध्यति।

"कृष्णशुक्लावुभौ पक्षौ।"[8] "मासाः शुक्लादयः स्मृताः।"[9] एवमेव
संवत्सरान् ऋतुन् मासान् पक्षानथ लवान् क्षणात्।[10]
काष्ठाः कला मुहूर्त्ताश्च दिवा रात्रिस्तथालवाः।[11]

1. महा॰ अश्वमेधपर्व 44/2
2. महा॰ आदि पर्व 71/34
3. महा॰ कर्ण॰ 21/48
4. कर्ण॰ 49/28
5. वन॰ 278/20
6. आदि॰ 135/30
7. महा॰ उद्योग॰ 43/7
8. महा॰ वन 84/96
9. महा॰ अश्व॰ 44/2
10. महा॰ शान्ति॰ 14/16
11. शान्ति॰ 7/21

महाभारते अभिजितादि मुहूर्त्तानामपि अनेकत्रोल्लेखो दृश्यते। यथा —

"ऐन्द्रे चन्द्रसमायुक्ते मुहूर्तेऽभिजिदष्टमे।"[1]

"सभवान् पुण्ययोगेन मुहूर्तेन जवेन च।"[2]

सूर्यचन्द्रादिग्रहणमधिकृत्य महाभारते अनेके प्रसङ्गाः सन्ति। यथा —

अलक्ष्यः प्रभयाहीनः पौर्णमासीञ्च कार्तिकीम्।
चन्द्रोऽभूदग्निवर्णश्च पद्मवर्णे नभस्तले।।[3]

राहुरग्रसदादित्यमपर्वणि विशाम्पते।[4] महाभारतयुद्धवर्षे मार्गशीर्षकृष्णामावस्यां तिथौ सूर्यग्रहणं घटितं तथा च कार्तिकपौर्णमास्यां चन्द्रग्रहणं घटितं तथा च मार्गशीर्षकृष्णपक्षश्च त्रयोदशदिनात्मक एव। यथा प्रतिपादितं भीष्मपर्वणि—

चतुर्दशीं पञ्चदशीं भूतपूर्वां तु षोडशीम्।
इमां तु नाभिजानेऽहममावास्यां त्रयोदशीम्।
चन्द्रसूर्यावुभौ ग्रस्तौ एकमासो त्रयोदशीम्।[5]

महाभारते सूर्यचन्द्रादि नवैव ग्रहास्तत्र तत्र स्मृताः अवलोक्यन्ते। यथा —

सोमो बृहस्पतिः शुक्रो बुधोऽङ्गारक एव च।
इन्द्रो विवस्वान् दीप्तांशुः शुचिः शौरिः शनैश्चरः।।[6]
भृगुसूनुधरापुत्रौ शशिजेन समन्वितौ।[7] प्रतिलोमोऽभवद्गुरुः।[8]
नक्षत्रमभितो व्योम्नि शुक्राङ्गिरसयोरिव।।[9] विमार्गस्थौ ग्रहाविव।[10] सोमं सप्तग्रहा इव।[11]
निःसरन्तो व्यदृश्यन्त सूर्यात्सप्त महाग्रहाः।[12] ग्रहाः पञ्च रविं यथा।[13]

---

1. महा॰ आदि 123/6
2. उद्योग 6/7
3. भीष्म॰ 2/23
4. सभा॰ 79/19
5. भीष्म॰ 3/31–32
6. महा॰ वन॰ 3/17
7. शल्य॰ 11/18
8. शान्ति॰ 11/15
9. कर्ण॰ 18/1
10. कर्ण॰ 18/22
11. द्रोण॰ 37/22
12. कर्ण॰ 37/4
13. भीष्म॰ 100/37

महाभारतसमये ग्रहगतिज्ञानमपि अतिसमृद्धमासीत्। यथोक्तं शान्तिपर्वणि –

अथ संवत्सराणाञ्च मासानाञ्च क्षयं तथा।
पक्षक्षयं तथा दृष्ट्वा दिवसानाञ्च सङ्क्षयम्।[1]

आचार्य लोकमणिदाहालो निर्दिशति यत्संवत्सरक्षयो हि प्रायः पञ्चाशीतिः वर्षानन्तरं घटते। महाभारते हि मेषवृषमिथुनादिद्वादशराशीनां विधिः क्रान्तिवृत्तस्य द्वादशविभागेन ग्रहस्थितिनिर्धारणपद्धतिर्वा नैव दृश्यते। सम्भवतः तदा द्वादशसंवत्सरपद्धतिः प्रचलिताऽनुमीयते। सा च गुरोरुदयास्तमययोरव लम्बिता। तत्र हि पौनः पुण्येन संवत्सरक्षयावसरं आपतति। क्षयमासो स्पष्टगतेः सूक्ष्मज्ञानं विना नैव ज्ञातुं शक्यते। तेन हि तदा गुरोः सूक्ष्ममध्यमगतेर्ज्ञानम-वश्यमेवाऽऽसीत्। महाभारते सामुद्रस्योत्तरङ्गस्य चन्द्रमसा सह सम्बन्धः पृथ्व्याः गोलत्वं चन्द्रमसः पृष्ठस्यादृश्यत्वञ्चोक्तम्।[2]

महाभारते धूमकेतोरुल्कापातादेश्चोल्लेखो यत्र तत्र दृश्यते। वर्षायाः कारणं सूर्य एव इत्यपि तदा ज्ञातमासीत्। यथोक्तं वनपर्वणि –

त्वमादायांशुभिस्तेजो निदाघे सर्वदेहिनाम्।
सर्वौषधिरसानाञ्च पुनर्वषासु मुञ्चसि।।[3]

ज्योतिषस्य सिद्धान्तस्कन्धापेक्षया संहितास्कन्धस्य ज्ञानं अतिसमृद्धतरं दरीदृश्यते महाभारते। अत्र कानिचित् तत्सम्बद्धानि वचनान्युद्धियन्ते। यथा –

अद्यः पौष्ययोगमुपैति चन्द्रमाः। पाणिं कृष्णायास्त्वं गृहाणाद्यपूर्वम्।।[4]
यतो वायुर्यतः सूर्यो यतो शुक्रस्ततो जयः।।[5]

तस्मिन्काले संवत्सरादि ज्ञानमपि समृद्धमासीत्। यथा –

अनुसम्वत्सरं जाताः पाण्डवाः कुरुसत्तमाः।
पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्चसंवत्सरा इव।।[6]

महाभारतसमये कालगणना अपि सुसम्यक् प्रकारेण ज्ञातमासीत्। यथा –

तेषां कालातिरेकेण ज्योतिषाञ्चव्यतिक्रमात्।
पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासावुपजायतः।।

---

1. शान्तिपर्व 301/46-47
2. यथा हिमवतः पार्श्वं पृष्ठं चन्द्रमसो यथा....।
3. वन॰ 49/3
4. आदि॰ 198/5
5. शा॰ 100/20
6. आदिपर्व 134/24

एषामप्यधिकाः मासाः पञ्च च द्वादशक्षपाः।
त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्तते मतिः।।[1]

वेदाङ्गज्योतिषानुसारेण द्वयोरधिमासयोरवस्थितिर्हि पञ्चसु वर्षेषु सिध्यति। नक्षत्रगणना कृत्तिकानक्षत्रात् एव तत्र मता। महाभारतेऽपि नक्षत्रगणना कृत्तिकानक्षत्रादारभ्य भरणीं यावत् कृताऽस्ति तथा च तत्तन्नक्षत्रविशेषेषु दानविशेषनिर्देशश्च कृताऽस्ति।[2] युधिष्ठिर जन्मसमये ग्रहयोगो यथा —

भृगुपुत्रधरापुत्रौ शशिजेन समन्वितौ।

महाभारते युधिष्ठिर जन्ममुहूर्त्तं यथा—

ऐन्द्रे चन्द्रसमारोहे मुहूर्त्तेऽभिजिदष्टमे।
दिवो मध्यगते सूर्ये तिथौ पूर्णेतिपूजिते।।[3]

युधिष्ठिरजन्मकुण्डल्यां ग्रहाणां शुभाशुभफलं सौम्यपापग्रहक्रूरत्वं ग्रहाणां वक्रत्वं उल्कापातत्वं च यथा—

प्राजापत्यं हि नक्षत्रं ग्रहस्तीक्ष्णो महाद्युतिः।
शनैश्चरः पीडयति पीडयन् प्राणिनोऽधिकम्।।

कृत्वा चाङ्गारको वक्रं ज्येष्ठायां मधुसूदन।
अनुराधां प्रार्थयते मैत्रं सङ्गमयन्निव।।

नूनं महद्भयं कृष्ण कुरूणां समुपस्थितम्।
विशेषेण हि वार्ष्णेय चित्रां पीडयते ग्रहः।।

सोमस्य लक्ष्म व्यावृत्तं राहुरर्कमुपैति च।
दिवसोल्काः पतन्त्येताः सनिर्वाताः सकम्पना।।[4]

नक्षत्रवर्णनं तथा च चन्द्रस्वरूपं यथा महाभारते —

मार्गशीर्षस्य मासस्य चन्द्रे मूलेन संयुते।
पादौमूलेन राजेन्द्र जङ्घायामथ रोहिणीम्।।

अश्विभ्यां सक्थिनी चैव ऊरु चाषाढयोस्तथा।
गुह्यं तु फाल्गुनी विद्यात्कृत्तिका कटिकास्तथा।।

---

1. विरा॰ 52/3-4
2. अनुशा॰ 64/20-30
3. शल्य 11/18
4. आदिपर्व॰ 123/6
5. उद्योगपर्व 143/8-11

नाभिर्भाद्रपदे विद्याद् रेवत्यामक्षिमण्डलम्।
पृष्ठमेव धनिष्टासु अनुराधोत्तरास्तथा।।
बाहुभ्यां तु विशाखासु हस्तौ हस्तेन निर्दिशेत्।
पुनर्वस्वङ्गुलौ राजन् आश्लेषास्तु नखास्तथा।।
ग्रीवाज्येष्ठा च राजेन्द्र श्रवणेन तु कर्णयोः।
मुखं पुष्येण दानेन दन्तोष्ठौ स्वातिरुच्यते।।
हासं शतभिषाञ्चैव मघाञ्चैवाथ नासिकाम्।
नेत्रे मृगशिरो विद्याल्ललाटे मित्रमेव तु।।
भरण्यां तु शिरो विद्यात्केशानार्द्रा नराधिप।
जायते परिपूर्णाङ्गः पौर्णमास्येव चन्द्रमाः।।

महाभारते अनुशासनपर्वणि भाद्रपद्मार्गशीर्षादिद्वादशमासानां नामानि गृहीतानि सन्ति।[1] महाभारते त्रयोदशदिनात्मकपक्षो यथा—

चतुर्दशीं पञ्चदशीं भूतपूर्वां तु षोडशीम्।
इमां तु नाभिजानेऽहममावास्यां त्रयोदशीम्।।
चन्द्रसूर्यावुभौ ग्रस्तावेकमासीं त्रयोदशीम्।

महाभारतस्य तृतीयाऽध्याये महाभारतयुद्धकालीनग्रहनक्षत्रस्थितिर्यथा —

श्वेतो ग्रहः तथा चित्रां समतिक्रम्य तिष्ठति।
धूमकेतुर्महावीर पुष्यञ्चाक्रम्य तिष्ठति।।
मघास्वङ्गारको वक्रः श्रवणे च बृहस्पतिः।
भगं नक्षत्रमाक्रम्य सूर्यपुत्रेण पीडयते।।
शुक्रः प्रोष्ठपदे पूर्वे समारुह्य विराजते।
रोहिणीं पीडयत्येवमुभौ च शशिभास्करौ।।
चित्रास्वात्यन्तरे चैव विष्ठितः पुरुषग्रहः।
वक्रानुवक्रं कृत्वा च श्रवणं पावकप्रभः।।
ब्रह्मराशिं समावृत्य लोहिताङ्गो व्यवस्थितः।
विशाखायाः समीपस्थौ बृहस्पतिशनैश्चरौ।।
चन्द्रसूर्यावुभौ ग्रस्तावेकाह्ना हि त्रयोदशीम्।।[2]
प्राजापत्यं हि नक्षत्रं ग्रहस्तीक्ष्णो महाद्युतिः।
शनैश्चरः पीडयति पीडयन् प्राणिनोऽधिकम्।।

---

1. अनुशा॰ 106/17-31, अनुशासन॰ 107/3-14
2. भीष्म॰ अं॰ 3

कृत्वा चाङ्गारको वक्रं ज्येष्ठायां मधुसूदन।
अनुराधां प्रार्थयते मैत्रं सङ्गमयन्निव।।[1]

मार्गशुक्लपक्षप्रतिपदायां तिथौ महाभारतयुद्धं प्रारब्धं पौषकृष्णतृतीयायां तिथौ समाप्तम्। "अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः शयानस्याद्य मे गताः"। भीष्मपितामहः विषये कथितं वर्तते यत् भीष्मपितामहः मार्गशुक्लदशम्यां तिथौ अर्जुनेन पातितोऽपि अष्टपञ्चाशद्दिनानि असून् धारयित्वा माघशुक्लपक्षाष्टम्यां निर्वाणमाप। यथा –

माघोऽयं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर।
त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति।[2]

एवं वयं अस्य महाभारतस्य विषये एतद् कथयितुं पारयामः यत् अस्मिन् ज्योतिषसम्बन्धिविषयः सारत्वेन यत्र तत्र प्रपञ्चितः सन्ति। अत्र सामान्यतः नक्षत्राणां कृत्तिकादितो गणना, ग्रहगतिज्ञानम्, धूमकेतोरुल्कापातादेश्चोल्लेखो, पृथ्व्याः गोलत्वम्, संवत्सरादिज्ञानम्, द्वादशमासानां नामानि, सूर्यचन्द्रादिग्रहणम् तथा च मुहूर्त्तमधिकृत्य अनेके प्रसङ्गाः सन्ति।

---

1. उद्योग॰ अं॰ 143
2. अनुशा॰ 167/28

महाभारत में वर्णित पातिव्रत्य–धर्म सम्बन्धी शिक्षा

डॉ॰ सुषमा देवी गुप्ता
रीडर, संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू–180006

यथा समुद्रो भगवान् यथा मेरूर्महागिरिः।
ख्यातावुभौ रत्ननिधि तथा भारतमुच्यते।।[1]

अर्थात् जिस प्रकार सुमेरु पर्वत तथा समुद्र दोनों रत्नों के निदान हैं, उसी प्रकार यह महाभारत भी अमूल्य सदुपदेशरूपी रत्नों का भण्डार है। महाभारत में अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, कथा–साहित्य, दर्शन–शास्त्र तथा धर्म–शास्त्र भरे पड़े हैं। महाभारत धर्म–अर्थ–काम और मोक्ष चारों–पुरुषार्थों को देने वाला है। इसमें जहां गुरु–भक्ति, माता–पिता की सेवा, दान, तप, व्रत, उपवास, सेवा एवं तीर्थों और यज्ञों आदि के महात्म्य का विशद वर्णन किया गया है वहीं पातिव्रत्य–धर्म का विशेष रूप से निरूपण हुआ है।

महाभारत की एक विशेषता यह है कि इसमें जहां–जहां जिस–जिस धर्म का निरूपण किया गया है वहीं पर उस धर्म के पालन हेतु स्पष्ट शिक्षा एवं आदेश भी निबद्ध किये गये हैं। जीवन को चार आश्रमों में विभक्त करके जीवनचर्या को एक सुचारू रूप दिया गया है, परन्तु गृहस्थ–आश्रम को महाभारत में विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है :–

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः।।[2]

अर्थात् ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास–ये चार–आश्रम शास्त्रों में बताये गये हैं। गृहस्थ–आश्रम ही इन सबका मूल है क्योंकि उसी से सबका का भरण–पोषण होता है।

---

1. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय–62, श्लोक–48
2. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, अध्याय–45, श्लोक–13

महाभारत में गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करने के लिए विशेष निर्देशन दिया गया है। गृहस्थ-आश्रम के दो आधार स्तम्भ हैं पति और पत्नी तथा दोनों को ही अपने-अपने धर्म का पालन करने का मार्ग दिखलाया गया है। इसके अतिरिक्त उसके माहात्म्य का भी वर्णन किया गया है जिसकी पुष्टि सुन्दर कथाओं द्वारा, उपलब्धियों द्वारा एवं चमत्कारों द्वारा हुई है।

पति के प्रति पत्नी के धर्म – पातिव्रत्य-धर्म का विशेष वर्णन हमें महाभारत में मिलता है। पातिव्रत्य-धर्म की व्याख्या करने के लिए महाभारत के वनपर्व में विशेषतया द्रौपदी-सत्यभामा संवाद निबद्ध किया गया है :-

व वश्या हि सततं पाण्डवाः प्रियदर्शने।
मुखप्रेक्षाश्च ते सर्वे तत्त्वमेतद् ब्रवीहि मे।।

व्रतचर्या तपो वापि स्नानमन्त्रौषधानि वा।
विद्यावीर्यं मूलवीर्यं जपहोमागदास्तथा।।

ममाद्याचक्ष्व पाञ्चालि यशस्यं भगदैवतम्।
येन कृष्णे भवेन्नित्यं मम कृष्णो वशानुगः।।[1]

सत्यभामा एकान्त में द्रौपदी से पूछती है कि :- **प्रियदर्शने! क्या कारण है** कि पाण्डव सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं और सब के सब तुम्हारे मुंह की ओर देखते रहते हैं? इसका रहस्य मुझे बतलाओ। आज मुझे भी कोई ऐसा व्रत, तप, स्नान, मन्त्र, औषध, विद्या-शक्ति, मूल-शक्ति, जप, होम या दवा बताओ जो यश और सौभाग्य की वृद्धि करने वाला हो तथा जिससे श्याम-सुन्दर सदा मेरे अधीन रहें।

द्रौपदी जो पातिव्रत्य-धर्म की मर्मज्ञ थी वे इस प्रकार कहती है :-

असत्स्त्रीणां समाचारं सत्ये मामनुपृच्छसि।
असदाचरिते मार्गे कथं स्यादनुकीर्तनम्।।

अनुप्रश्नः संशयो वा नैतत् त्वय्युपपद्यते।
तथाह्युपेताबुद्ध्या त्वं कृष्णस्य महिषी प्रिया।।

यदैव भर्ता जानीयान्मन्त्रमूलपरां स्त्रियम्।
उद्विजेत तदैवास्याः सर्पाद् वेश्मगतादिव।।

---

1. महाभारत, वनपर्व, अध्याय-233, श्लोक-6-81

उद्विग्नस्य कुतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।
न जातु वशगोभर्ता स्त्रियाः स्यान्मन्त्रकर्मणा।

अमित्रप्रहितांश्चापि गदान् परमदारूणान्।
मूलप्रचारैर्हि विषं प्रयच्छन्ति जिघांसवः।।[1]

द्रौपदी उत्तर में कहती है कि "सत्यभामा जिस विषय के बारे में तुम मुझ से पूछ रही हो वह साध्वी स्त्रियों का नहीं, दुराचारिणी और कुलटा स्त्रियों का आचरण है। इस प्रकार का प्रश्न अथवा स्वामी के स्नेह में संदेह करना तुम्हारी जेसी साध्वी स्त्री के लिए कदापि उचित नहीं है; चूंकि तुम बुद्धिमती होने के साथ ही श्याम सुन्दर की प्रियतमा पटरानी हो। जब पति को यह मालूम हो जाये या पता चल जाये कि उसकी पत्नी उसे वश में करने के लिए किसी मन्त्र-तन्त्र अथवा जड़ी-बूटी का प्रयोग कर रही है तो वह उससे उसी प्रकार उद्विग्न हो उठता है जैसे अपने घर में घुसे हुए सर्प से लोग शंकित रहते हैं। उद्विग्न को शान्ति कैसी? और अशान्त को सुख कहां? अतः मन्त्र-तन्त्र करने से पति अपनी पत्नी के वश में कदापि नहीं हो सकता। इसके सिवा, ऐसे अवसरों पर धोखे से शत्रुओं द्वारा भेजी हुई औषधियों को खिलाकर कितनी ही स्त्रियां अपने पतियों को अत्यन्त भयंकर रोगों का शिकार बना देती हैं। किसी को मारने की इच्छा वाले मनुष्य उसकी स्त्री के हाथ में यह प्रचार करते हुए विष दे देते हैं कि 'यह पति को वश में करने वाली जड़ी-बूटी है।'

पातिव्रत्य-धर्म से भटकी हुई सत्यभामा जो अपने स्वामी श्रीकृष्ण के प्रति पूर्णतया समर्पित होने के बदले उन्हें प्राप्त करना चाहती है। पाण्डवों पर द्रौपदी के प्रभाव से विस्मित होकर इसका रहस्य उससे पूछती है एवं साथ ही पातिव्रत्य-धर्म का ध्यान न करते हुए स्वयं को कोई भी उपाय करने के लिए प्रस्तुत करती है। द्रौपदी उसके प्रश्न का उत्तर देने से पहले उसकी प्रताड़ना करती है तथा प्रेम से उसके अधोगामी भावों की अवहेलना करती है अर्थात् वह उसे वहां से मोड़ने के अभिप्राय से पातिव्रत्य-धर्म से च्युत साधनों द्वारा पति को प्राप्त करने को दुराचारिणी कुलटा स्त्रियों का आचरण कहती है और साथ में एक विशेष तथ्य को उजागर करती है कि प्रियतम की पटरानी होने पर भी सवामी के स्नेह पर संदेह क्यों?

प्रणयं प्रतिसंहृत्य निधायात्मानमात्मनि।
शुश्रूषुर्निरहंमान पतीनां चित्तरक्षिणी।।

1. महाभारत, वनपर्व, अध्याय-233, श्लोक 10-14

दुर्व्याहताच्छंकमाना दुःस्थिताद् दुरवेक्षितात्।
दुरासिताद् दुर्व्रजितादिंगिताध्यासितादपि।।

देवो मनुष्यो गन्धर्वो युवा चापि स्वलंकृतः।
द्रव्यवानभिरूपो वा न मेऽन्यः पुरुषो मतः।।

क्षेत्राद् वनाद् वा ग्रापाद् वाभर्तारं गृहमागतम्।
अभ्युत्थायाभिनन्दामि आसनेनोदकेन च।।[1]

अर्थात् अपनी इच्छाओं का दमन करके मन को अपने आप में ही समेटे हुए केवल सेवा की इच्छा से ही अपने पतियों का मन रखती हूँ। अहंकार और अभिमान को अपने पास नहीं फटकने देती। कभी मेरे मुख से कोई बुरी बात न निकल जाये, इसकी आशंका से सदा सावधान रहती हूँ। असभ्य की भाँति कहीं खड़ी नहीं होती। निर्लज्ज की तरह सब ओर दृष्टि नहीं डालती। बुरी जगह पर नहीं बैठती। दुराचार से बचती हूँ तथा चलने-फिरने में असभ्यता न हो जाये इसके लिये सतत् सावधान रहती हूँ। पतियों के अभिप्राय पूर्ण संकेत का सदैव अनुसरण करती हूँ। देवता, मनुष्य, गन्धर्व, युवक, बड़ी सज-धज वाला धनवान अथवा परम सुन्दर कैसा ही पुरुष क्यों न हो, मेरा मन पाण्डवों के सिवा और कहीं नहीं जाता। खेत से, वन से अथवा गांव से जब कभी मेरे पति घर पधारते हैं, उस समय खड़ी होकर उनका अभिनन्दन करती हूँ तथा आसन और जल अर्पण करके उनके स्वागत सत्कार में लग जाती हूँ :-

अहं पतीन् नातिशये नात्यश्ने नातिभूषये।
नापि श्वश्रूं परिवेद सर्वदा परियन्त्रिता।।
अवधानेन सुभगे नित्योत्थिततयैव च।
भर्तारो वशगा मह्यं गुरुशुश्रूषयैव च।।[2]

अर्थात् पतियों के शयन करने से पहले मैं कभी शयन नहीं करती, उनसे पहले भोजन नहीं करती, उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई आभूषण नहीं पहनती, अपनी सास की कभी निन्दा नहीं करती और अपने मन को सदा नियन्त्रण में रखती हूँ। मैं सावधानी से सर्वदा सवेरे उठकर समुचित सेवा के लिए सन्नद्ध रहती हूँ। गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा से ही मेरे पति मेरे अनुकूल रहते हैं।

---

1. महाभारत, वनपर्व, अध्याय-233, श्लोक 21-25
2. महाभारत, वनपर्व, अध्याय-233, श्लोक 38-39

प्रथमं प्रतिबुध्यामि चरमं संविशामि च।
नित्यकालमहं सत्ये एतत् संवननं मम।।[1]

हे सत्य! मैं प्रतिदिन सबसे पहले उठती और सबसे पीछे सोती हूँ। यह पतिभक्ति और सेवा ही मेरा वशीकरण मन्त्र है।

सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं
दुःखेन साध्वी लभते सुखानि।
सा कृष्णमाराधय सौहृदेन
प्रेम्णा च नित्यं प्रतिकर्मणा च।।
त्वत्संनिधौ यत् कथयेत् पतिस्ते
यद्यप्यगुह्यं परिरक्षितव्यम्।
काचित् सपत्नी तव वासुदेवं
प्रत्यादिशेत्तेन भवेद् विरागः।।[2]

अर्थात् इस जगत् में कभी सुख के द्वारा सुख की प्राप्ति नहीं होती। पविव्रता स्त्री दुःख उठाकर ही सुख पाती है। तुम्हारे पति तुम्हारे निकट जो भी बात कहें, यदि वह छिपाने वाली नहीं हो तो भी तुम्हें उसे गुप्त ही रखना चाहिए। अन्यथा तुम्हारे मुख से उस बात को सुनकर यदि कोई सौत उसे श्याम सुन्दर के सामने कह दे, तो उनके मन में तुम्हारी ओर से विरक्ति हो सकती है।

प्रियांश्च रक्तांश्च हितांश्च भर्तुस्तान्
भोजयेथा विविधैरूपायैः।
द्वेष्यैरूपेक्ष्यैरहितैश्च तस्य भिद्यस्व
नित्यं कुहकोद्यतैश्च।।[3]

पतिदेव के जो प्रिय, अनुरक्त एवं हितैषी सुहृद हों, उन्हें तरह-तरह के उपायों से खिलाओ-पिलाओ तथा जो उनके शत्रु, उपेक्षणीय और अहितकारक हों अथवा जो उनसे छल-कपट करने के लिए उद्यत रहते हों, उनसे सदा दूर रहो।

---

1. महाभारत, वनपर्व, अध्याय-233, श्लोक 58
2. महाभारत, वनपर्व, अध्याय-234, श्लोक 4-8
3. महाभारत, वनपर्व, अध्याय-234, श्लोक 9

द्रौपदी ने पातिव्रत्य-धर्म का जो वर्णन किया है वह अत्यन्त हृदयग्राही, व्यावहारिक एवं लाभकारी है। उसने अध्यात्म के स्तर पर, शरीर के तल पर तथा मन के तल पर कैसा धर्म, भाव एवं व्यवहार होना चाहिए, इसे शब्दों में निबद्ध कर दिया है। वह प्रेम, समर्पण एवं सौहार्दता को ही पातिव्रत्य-धर्म का मूल मानती हैं। पति के प्रति प्रेम, उनके प्रति समर्पण तथा उनके अनुरक्त प्रिय एवं हितैषियों के प्रति सौहार्दता ही द्रौपदी के अनुसार पातिव्रत्य-धर्म के आधार-स्तम्भ हैं। यदि यह गुण पत्नी में हों तब वह अन्य विषयों की ओर जाते अधोगम्य मन को रोक सकती है।

प्रणयं प्रतिसंहृव्य निधायात्मानमात्मनि।
शुश्रूषुर्निरहंमाना पतीनां चित्तरक्षिणी।।[1]

कहकर वह स्पष्ट करती है कि इच्छाओं का दमन, अहंकार और अभिमान का त्याग करना पातिव्रत्य-धर्म का एक मूलभूत अंग है।

अतिहासातिरोषौ च क्रोधस्थानं च वर्जये।
निरताहं सदा सत्ये भर्तृणामुपसेवने।।[2]

कहकर द्रौपदी तीन बातों पर प्रकाश डालती है। वह कहती है कि "मैं अधिक हंसती नहीं हूं। अधिक हंसने से उनका यह कदापि तात्पर्य नहीं है कि वे गम्भीर रहती हैं अपितु मुंह खोलकर हंसने से है यानि उन्होंने इस कथन के द्वारा स्त्री के एक सर्वश्रेष्ठ आभूषण लज्जा की ओर संकेत किया है। सदा हंसते रहना अथवा मुंह खोलकर हंसते रहना निर्लज्जता का सूचक है। द्रौपदी पुनः कहती है कि "मैं अति क्रोध को स्थान नहीं देती" अर्थात् ऐसा अवसर ही नहीं आने देती कि अति क्रोध आ जाये। वैवाहिक जीवन में क्रोध ही न आए ऐसा लगभग असम्भव है लेकिन क्रोध करने की भी एक सीमा होती है जहां यह विनाशकारी न होकर कल्याणकारी भी हो जाता है इसलिए वह अति शब्द पर बल देती है कि अति क्रोध को आने नहीं देती। अतिक्रोध की परिभाषा यहां स्वयं ही स्पष्ट है कि "ऐसा क्रोध जब व्यक्ति धर्मच्युत हो" और यहां इस शब्द से नारी की स्वतंत्रता भी सिद्ध हो जाती है कि "जब उसके सम्मान का हनन किया जाये" अथवा उसके अधिकार का हनन किया जाये तो वह क्रोध की अधिकारी है परन्तु अतिक्रोध अर्थात् ऐसे क्रोध की नहीं जिससे वह सामाजिक-मर्यादा की, पातिव्रत्य-धर्म की अपने कर्त्तव्यों की सीमा लांघ जाये।

1. महाभारत, वनपर्व, अध्याय-233, श्लोक 20
2. महाभारत, वनपर्व, अध्याय-234, श्लोक 29

सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं दुःखेन साध्वी लभते सुखानि।[1]

इन मणिरूपी शब्दों की जितनी प्रशंसा की जाये उतनी ही कम है। सुख से सुख की प्राप्ति नहीं होती। पातिव्रत्य-धर्म के अन्तर्गत यह बात कितनी मर्मस्पर्शी है और साथ ही उच्चकोटि की विवेचनीय दृष्टि का परिचय देती है। इसके अतिरिक्त द्रौपदी पातिव्रत्य-व्यवहार की कुछ और कुंजियां भी सत्यभामा को देती है जो तब तक प्रासंगिक रहेंगी जब तक संसार में विवाह-संस्थान विद्यमान रहेगाः-

दुर्व्याहृताच्छंकमाना दुःस्थिताद् दुखेक्षितात्।
दुरासिताद् दुर्व्रजितादिंगिताध्यासितादपि।

नाभुक्तवति नास्नाते नासंविष्टे च भर्तरि।
न संविशामि नाश्नामि सदा कर्मकरेष्वपि।।[2]

अर्थात् पतियों और उनके सेवकों को भोजन कराये बिना मैं कभी भोजन नहीं करती, उन्हें नहलाये बिना कभी नहाती नहीं हूं तथा पतिदेव जब तक शयन न करें, तब तक मैं सोती भी नहीं हूँ।

प्रमृष्टभाण्डा मृष्टान्ना काले भोजनदायिनी।
संयता गुप्तधान्या च सुसम्मृष्टनिवेशना।।[3]

अर्थात् मैं घर के बर्तनों को मांज-धोकर साफ रखती हूं। शुद्ध एवं स्वादिष्ट-रसोई तैयार करके सबको समय पर भोजन कराती हूं। मन और इन्द्रियों को संयम में रखकर घर में गुप्त रूप से अनाज का संचय करके रखती हूं और घर को झाड़-बुहार कर, लीप-पोत कर सदा स्वच्छ एवं पवित्र बनाए रखती हूं।

अतिरस्कृतसम्भाषा दुःस्त्रियो नानुसेवति।
अनुकूलवती नित्यं भवाम्यनलसा सदा।।[4]

मैं कोई ऐसी बात मुंह से नहीं निकालती, जिससे किसी का तिरस्कार हो। दुष्ट-स्त्रियों के सम्पर्क से सदा दूर रहती हूँ। आलस्य को कभी पास नहीं आने देती और सदा पतियों के अनुकूल बर्ताव करती हूँ।

---

1. महाभारत, वनपर्व, अध्याय-234, श्लोक 4
2. महाभारत, वनपर्व, अध्याय-233, श्लोक 21-24
3. महाभारत, वनपर्व, अध्याय-233, श्लोक 26
4. महाभारत, वनपर्व, अध्याय-233, श्लोक 27

यच्च भर्ता न पिबति यच्च भर्ता न सेवते।
यच्च नाश्नाति मे भर्ता सर्वं तद् वर्जयाम्यहम्।।[1]

अर्थात् मेरे पतिदेव जिस चीज़ को नहीं खाते, नहीं पीते अथवा नहीं सेवन करते, वह सब मैं भी त्याग देती हूं।

ऐसे पातिव्रत्य-धर्म का एक उदाहरण आदिपर्व के एक सौ नौवें अध्याय में मिलता है :-

गान्धारी त्वथ शुश्राव धृतराष्ट्रमचक्षुषम्।
आत्मानंदित्सितं चास्मै पित्रा मात्रा च भारत्।।

ततः सा पट्टमादाय कृत्वा बहुगुणं तदा।
बबन्ध नेत्रे स्वे राजन् पतिव्रतपरायणा।।[2]

अर्थात् गान्धारी ने जब सुना कि धृतराष्ट्र अंधे हैं और माता-पिता उसका विवाह उन्हीं के साथ करना चाहते हैं तब उन्होंने रेशमी-वस्त्र लेकर उसके कई तह करके उसी से अपनी आंखें बांध लीं। राजन्, गान्धारी बड़ी पतिव्रता थीं।

यह पातिव्रत्य-धर्म का चरम है जो कहीं गान्धारी के रूप में, कहीं सावित्री के रूप में और कहीं दमयन्ती के रूप में हमें महाभारत में उपलब्ध होता है।

श्रुत्वा स्वरं द्वारगतस्य भर्तुः प्रत्युत्थिता तिष्ठ गृहस्य मध्ये।
दृष्ट्वा प्रविष्टं त्वरिताऽऽसनेन पाद्येन चैनं प्रतिपूजयस्व।
त्वतसंनिधौ यत् कथयेत् पतिस्ते यद्यप्यगुह्यं परिरक्षितव्यम।।
काचित् सपत्नी तव वासुदेवं प्रत्यादिशेत् तेन भवेद् विरागः।[3]

अर्थात् जब महल के द्वार पर पधारे हुए प्राण-वल्लभ का स्वर सुनाई पड़े, तब तुम उठकर घर के आंगन में आ जाओ और उनकी प्रतीक्षा में खड़ी रहो। जब देखो कि वह भीतर आ गये, तब तुरन्त आसन और पाद्य के द्वारा उनका यथावत् पूजन करो। तुम्हारे पति तुम्हारे निकट जो भी बात कहें, वह छिपाने योग्य न हो, तो भी तुम्हें उसे गुप्त रखना चाहिये। अन्यथा तुम्हारे मुख से उस बात को सुनकर यदि कोई सौत उसे श्याम सुन्दर के सामने कह दे, तो इससे उनके मन में तुम्हारी ओर से विरक्ति हो सकती है।

---

1. महाभारत, वनपर्व, अध्याय-233, श्लोक 31/32
2. महाभारत, आदीपर्व, अध्याय-109, श्लोक 13/14
3. महाभारत, वनपर्व, अध्याय-234, श्लोक 6-8

ऐसे वाक्य कह कर वह अनुभूतियों के आधार पर ऐसे रहस्यों को अनावृत्त करती है जो सहज ही व्यक्ति की समझ में नहीं आते। व्यवहार–कुशलता अपने आप में एक कला है और यह कला एक पत्नी को अवश्य आनी चाहिए। दाम्पत्य जीवन की एक विशेष बात जो बाकी सम्बन्धों से भिन्न है वह है 'आवरण'। अर्थात् पति–पत्नी की जो आपस की बातें हैं वह किसी दूसरे पर प्रकट न करने से अपनत्व, परस्पर श्रद्धा तथा परस्पर विश्वास की वृद्धि होती है। अनुशासन पर्व के 123वें अध्याय में शाण्डिली भी उस पातिव्रत्य–धर्म का वर्णन करते हुए जिसके द्वारा वह स्वर्ग में आई कहती है:– **"गुप्तगुह्या सदा चास्मि।[1]"** घर की गुप्त बातों को सदा छिपाये रखती हूँ।

मेरा अपना अनुभव है कि जो दम्पत्ति अपनी आपसी बातें क्रोधवश, लोभवश, प्रकृतिवश अथवा अन्यथा सबके सामने प्रकट करते हैं उनमें आपसी विश्वास और आपसी श्रद्धा की न्यूनता रहती है।

पातिव्रत्य–धर्म की शिक्षा के अतिरिक्त महाभारत में पातिव्रत्य–धर्म की महिमा का भी स्तवन किया गया है। यमराज द्वारा सावित्री को वरों का प्रदान करना तथा उसके पति को पुनर्जीवन देना, नल को पुनः राज्य की प्राप्ति करवाना, द्रौपदी की तब तक बाल न गूंथने की प्रतिज्ञा का पूर्ण होना। गान्धारी की दृष्टि पड़ने पर धर्मराज युधिष्ठिर के पांव की अंगुलियों के नखों का काला पड़ जाना, एक पतिव्रता का महातपस्वी कौशिक द्विज को यह कह देना कि "मैं वह बगुली नहीं हूं जो आपकी क्रोधभरी दृष्टि से जल जाऊंगी"[2], इस बात का परिचायक है कि पातिव्रत्य–धर्म का कितना माहात्म्य, कितना बल है कि जिसके आधार पर साधारण स्त्रियों को ऐसी दृष्टि प्राप्त हुई, ऐसी वाक् सिद्धि प्राप्त हुई, ऐसा बल प्राप्त हुआ जो अपने आप में अद्वितीय है, विलक्षण है।

महाभारत के अनुशासन–पर्व के 123वें अध्याय में सुमना के यह पूछने पर कि कैसी तपस्या करके, कैसे दान देकर, किन कठोर नियमों का पालन करके आप चन्द्रमा की पुत्री के समान उज्जवल स्वर्गलोक में पधारी हैं, शाण्डिली कहती हैं :–

नाहं काषायवसना नापि वल्कलधारिणी।
न च मुण्डा च जटिला भूत्वा देवत्वमागता।।

---

1. महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय–123, श्लोक 19
2. महाभारत, वनपर्व, अध्याय–206, श्लोक 23

अहितानि च वाक्यानि सर्वाणि परुषाणि च।
अप्रमत्ता च भर्तारं कदाचिन्नाहमब्रुवम्।।

देवतानां पितृणां च ब्राह्मणानां च पूजने।
अप्रमत्ता सदा युक्ता श्वश्रूश्वशुरवर्तिनी।।[1]

अर्थात् मैंने गेरुआ-वस्त्र धारण नहीं किया, वल्कल-वस्त्र नहीं पहना, मूंड नहीं मुडाया और बड़ी-बड़ी जटाएं नहीं रखाईं। वह सब करके मैं देवलोक नहीं आई हूं। मैंने सदा सावधान रहकर अपने पतिदेव के प्रति मुंह से कभी अहितकर और कठोर वचन नहीं निकाले हैं। मैं सदा सास-ससुर की आज्ञा में रहती और देवता, पितर तथा ब्राह्मणों की पूजा में सदा सावधान होकर संलग्न रहती थी।

इमं धर्मपथं नारी पालयन्ती समाहिता।
अरून्धतीव नारीणां स्वर्गलोके महीयते।।[2]

अर्थात् जो स्त्री सदा सावधान रहकर धर्ममार्ग का पालन करती है वह नारियों में अरूंधती के समान आदरणीय होती है और स्वर्ग लोक में भी उसकी विशेष प्रतिष्ठा होती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पातिव्रत्य-धर्म की महिमा से स्वर्ग तक की प्राप्ति होती है। यदि आज की विवाहित नारी महाभारत में उद्धृत पातिव्रत्य-धर्म का अनुसरण करे तो निश्चय ही कुटुम्ब में सुख, वैभव तथा शान्ति का आगमन होगा और जो टूटन, बिखराव और तनाव वर्तमान समय में समाज में हर ओर व्याप्त है अवश्य घटेगा तथा नैतिक मूल्यों का विघटन रुक जायेगा और एक उच्च समाज के प्रतिष्ठापन की प्रक्रिया आरम्भ होगी।

---

1. महाभारत, अनुशासनपर्व के अन्तर्गत दान धर्म पर्व, अध्याय-123, श्लोक 8 से 10
2. महाभारत, अनुशासनपर्व के अन्तर्गत दान धर्म पर्व, अध्याय-123, श्लोक 20

अथर्ववेदे प्रतिपादितब्रह्मस्वरूपनिरूपणम्

डॉ. रामबहादुर शुक्लः
वरिष्ठ व्याख्याता-संस्कृत विभागे
जम्मू विश्वविद्यालयस्य जम्मूस्थ:-180006

ब्रह्मतत्त्वावधारणा वेदान्तदर्शने परिगणिता लभ्यते। एवं च उपनिषद वेदान्तपदेनाभिधीयते। सहैव चतुर्णां वेदानां च पृथक्-पृथक् स्वोपनिषदः संस्कृतवाङ्मये उपलभ्यन्ते। यदि अनेन रूपेण इदमुच्यते, यत् ब्रह्मणः आत्मतत्त्वस्य मीमांसायाः मूलभूत्सोद्गमस्थानं वर्तते, तदा एतदतिशयोक्तिर्नास्ति। चतुर्वेदेषु संगणितः अथर्ववेदः[1] विविध विषयैः संवलितत्त्वात् आङ्गिरसवेद[2]-अथर्वाङ्गिरसवेद[3]-ब्रह्मवेद[4]-भृगविङ्गरोवेद[5]-क्षत्रवेद[6]-भैषज्यवेद[7]-छन्दोवेद[8]-महीवेदशब्देनापि[9] कथ्यते। ब्रह्मवेदशब्देन स्पष्टं भवति यत् अस्मिन् वेदे ब्रह्मणः स्वरूपविचारः कृतो वर्तते। सहैव महत्याः ब्रह्मविद्यायाः उपदेशकारणात् अयं वेदः महीवेदशब्देनोक्तः, यः युक्तियुक्तोऽस्ति। अथर्ववेदस्य उपलब्धविंशतिकाण्डेषु चतुर्थ, पञ्चम, सप्तम, अष्टम, नवम, एकादश, द्वादश, त्रयोदशपंचदशादि नवकाण्डेषु ब्रह्मणः आत्मतत्त्वस्य वा विवरणं द्रष्टुं शक्यते। अथर्ववेदस्य द्वादशकाण्डे पृथ्वीसूक्ते पृथिव्याः प्रार्थनाप्रसङ्गे एतद् लभ्यते यत्—सत्य, महनीयता, ऋतं, बलं, दीक्षां, ब्रह्म, यज्ञं, पृथ्वीं च धारयति। भूतभविष्ययोः पत्नीस्वरूपा इयं पृथ्वी मदर्थं मम लोकं महिममयं कुर्यात्।[10] ब्रह्मविषये केनोपनिषदः मान्यता वर्तते यत्—"यद् वाचानुभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि।[11]" अर्थात् ब्रह्म तत् तत्त्वं भवति यस्य वर्णनं वाणी कर्तुं न पारयति, किन्तु

---

1. स आथर्वणो वेदोऽभवत् — गो० ब्रा० 1/5
2. स आंगिरसो वेदोऽभवत् — गो० ब्रा० 1/8, शत० ब्रा० 13/4/3/8
3. अथर्वाङ्गिरसो मुखम् — अथर्व० 10/7/20
4. तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुब्यचलन्। अथर्व० 15/5/6
5. उक्थं..........यजुः साम...........क्षत्रवेदं। शत० ब्रा० 14-8-14-2 से 4 मंत्र
6. दृष्टव्यः शतपथ ब्राह्मणः — 14-8-14/2......4 मंत्र
7. ऋचः सामानि भेषजा। यजूंषि — अथर्ववेद 11-6-14
8. ऋचः सामानिच्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। अथर्व० 11-7-24
9. ऋचः साम यजुर्महीं — अथर्व० 10-7-14
10. सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथ्वीं धारयन्ति।
    सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथ्वी नः कृणोतु॥ अथर्व० 12/1/1
11. के० उप० 1/5

तत्त्वयं वाण्यभिव्यंजने समर्थो भवति। ऋग्वेदः ब्रह्मवर्धनं इति रूपेण ब्रह्मणो मीमांसा करोति।[1] यदा च आचार्यः सायणः स्वभाष्ये एतत् तथ्यस्य व्याख्या ''ब्रह्म परिवृढं स्तोत्रं'' रूपेण करोति। श्रीग्रिफिथ महोदयेन अथर्ववेदस्य ब्रह्मवेद नामकरणे हेतुत्रयं वर्णितमस्ति, प्रथमः अथर्वन् ऋषेः ब्रह्मवेत्ता कारणात्, एतदतिरिक्ते अथर्व इति नामधेयस्य ऋषेः विषये गोपथब्राह्मणे प्रथमप्रपाठकस्य कंडिकासु वर्णितमेतत् यत् ''ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्, स्वयन्त्वेकमेव तदैक्षत्, महद्वैयक्षं, तदेकमेवास्मि, हन्ताहं मदेव द्वितीयं देवं निर्मम इति तदम्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्॥'' द्वितीयश्चायं वर्तते यदेतस्मिन् वेदे आशीर्वादाः प्रार्थनाश्चापि मन्त्राः वर्तन्ते, याभिः देवान् प्रसादयितुं शक्नुमः, तेषां रक्षां प्राप्तुमपि शक्नुमः, हितैषिणः उपकर्तुं मानवभूतप्रेतपिशाचादीन् आसुरशत्रून् अभिशप्तुं च क्षमाः। इमाः प्रार्थनात्मिकाः स्तुतयः ''ब्रह्माणि'' इति कथ्यन्ते। एषामेव ज्ञानसमुच्चयेन अस्य वेदस्य नाम ''ब्रह्मवेद'' इति वर्तते। श्रीग्रिफिथमहोदयश्च तृतीयश्च हेतुरयं वर्तते यत् यत्र वेदत्रयी लोके परलोके च सुखप्राप्तेरूपायान् दर्शयति, धर्मपालनस्य च शिक्षां प्रददाति, तत्र ब्रह्मवेदः ब्रह्मज्ञानस्य शिक्षां प्रददाति मोक्षस्योपायान् च प्रदर्शयति।

उपर्युक्तेषु तथ्येषु स्पष्टं भवति यत् अथर्ववेदस्य ब्रह्मतत्त्वस्य प्रतिपादकत्त्वात् स महीवेदेन सह ब्रह्मवेदोऽपि कथ्यते, यदा च ब्रह्मवेदस्य लोकप्रसिद्धार्थाः ऋत्विग्ब्रह्मसम्बद्धवेदोऽपि भवति। तैत्तरीयसंहितायां ब्रह्मणः आनन्त्यस्य निर्देशो लभ्यते[2], एतत् सर्वथा अथर्ववेदसम्मतम् एव भवति। यतो हि अथर्ववेदेऽपि ''तमृचश्च सामान च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यऽचलन'' अनेन मन्त्रेण ब्रह्मणोऽनन्ततायाः विवरणमपि लभ्यते[3], तदेव ब्रह्म अग्रेगत्त्वा जगतः आदिकारणरूपेऽपि दर्शनसाहित्ये प्रतिष्ठितमभूत्। ब्रह्मणो व्यापकस्वरूपविषये अथर्ववेदे वर्णनं लभ्यते यत् एतद् परब्रह्म परमात्मा द्वारा पृथ्वी अधस्तात् धारिता भवति। परब्रह्म द्वारा अयं द्यौः उपरि विधृतोऽस्ति। परब्रह्मणेव हि एतदन्तरिक्षं उपरि वक्रं व्यापकरूपेण च स्थितं वर्तते।[4] सम्पूर्णब्रह्माण्डः तस्य शरीरे प्रविष्टो वर्तते।[5] एतद् ब्रह्मज्ञानार्थं साधकस्य अनुबन्धचतुष्टयस्य ज्ञानेन सहैव साधनचतुष्टयसम्पन्नताऽपि आवश्यकी। एतच्चतुष्टयद्वये यः साधकः सफलः, स एव परब्रह्मणः अमृतेन समाच्छादितपुरीमपि जानाति, एवं च तस्मै परमात्मा तथा देवता चक्षुः प्रकाशं वा, प्राणं, प्रजां च ददाति।[6] वृद्धावस्थातः पूर्वं तद्ब्रह्मज्ञानिनं प्रकाशो न त्यजति न च प्राणाः अपि तं त्यजन्ति।

---

1. ऋग्वेद — 2/12/14
2. परिमिता वा ऋचः, परिमितानि सामानि, परिमितानि यजूंष्यर्थैतस्यैवान्तो नास्ति यद् ब्रह्म। — तै० सं० 7/3/1
3. अथर्व० 15/6/8
4. ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता।
   ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥ अथर्व० 10/2/25
5. ऊर्ध्वो नु सृष्टां३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ सर्वादिशः पुरुष आ बभूवाँ३।
   पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ अथर्व० 10/2/28
6. यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
   तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥ अथर्व० 10/2/29

यः परब्रह्मणः शरीरभूतं ब्रह्माण्डमिदं जानाति, यत् पुरीवासः वासकर्त्ता आत्मैव पुरुषः कथ्यते।[1] ब्रह्मणः एतादृशविशालकायशरीरं अष्टचक्रिका तथा च नवद्वारवती देवानां अयोध्यापुरी वर्तते। तस्मिन् एतच्छरीरपुर्याः शिरोभागे स्वर्णवर्णकः एकः कोशः अर्थात् ब्रह्मगह्वरं वर्तते, यत् अत्यन्तसुखमयेन सहैव ज्योतिराच्छादितमपि भवति।[2] तद् ब्रह्मगह्वरस्य सुवर्णकोशे रेखात्रयत्रिकोणे यः एकः प्रकाशः सः तद् गतिशीलः सैव आत्मा इति ब्रह्मज्ञानिनः जानन्ति[3] एवं अत्यन्तदेदीप्यमानायां, स्वर्णमयीं अन्नेन ब्रह्मजलेन वा पूर्णायां, पराजयहीनायां तस्यां स्वर्णमयीपुर्यां ब्रह्मा निवासं करोति।[4]

अनेन प्रकारेण स्पष्टं भवति यत् ब्रह्म अनाद्यनन्तविशालकायेन सहैव सत्-चित्-आनन्दज्योतिः स्वरूपमपि वर्तते। सच्चिदानन्दस्वरूपे जीवात्माऽपि वस्तुतो ब्रह्मरूपे पर्यवसितो भवति। अतः जीवब्रह्मणोः तथा च आत्मब्रह्मणोः न कश्चन् भेदः, द्वयोः अभेदःऐक्यं वा सम्बन्धोभवति। एतस्य तथ्यस्य बहुशः विवरणम् अथर्ववेदीयोपनिषद्भिः सह अन्योपनिषदि लभ्यते[5] परन्तु उपनिषत्सु ब्रह्मणः सगुणनिर्गुणरूपद्वयं प्रातं भवति। यत्र निर्गुणब्रह्म निरुपाधिकं, सगुण ब्रह्मसोपाधिकमभिकथ्यते। निर्गुणब्रह्म परब्रह्म तथा च सगुणब्रह्म अपरब्रह्म वा ईश्वरोऽपि कथ्यते। ब्रह्ममायोपाधिकत्वात् ईश्वरः सगुणब्रह्म वा कथ्यते, यत् विश्वस्य सृष्टिस्थितिलयस्य चापि कारणं वर्तते। वेदान्तानन्तरं शंकराचार्योऽपि उपनिषदि वा निर्गुणसगुणब्रह्मद्वयं स्वीकृतवान्। सः निर्गुणब्रह्म, परमार्थसत्यं, परमार्थतत्त्वं, भूमा, निरतिशयं, कूटस्थनित्यं, निर्विशेषं, दिग्देशकं, लाद्यनपेक्षं, सर्वसंसारधर्मवर्जितं, निरस्तसर्वोपाधिकं, सर्वगतं, चैतन्यमात्रसत्तावत्, निराकृतसर्वनाम एवं कर्मज्ञानज्ञेयज्ञातभेदरहितमवोचत्। यदा च मायोपाधिकं सगुणब्रह्म सृष्टिनिमित्तमुपादानकारणं द्वयं स्वीकृतम्।[6] शङ्कराचार्यः ब्रह्मविषये कथयन् लिखति "अस्य जगतो नाम रूपाभ्यां व्याकृतस्य

---

1. न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
   पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ अथर्व० 10/2/30
2. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
   तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ अथर्व० 10/2/31
3. तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
   तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः॥ अथर्व० 10/2/32
4. प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
   पुरं हि हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥ अथर्व० 10/2/33
5. तत्त्वमसि (छान्दोग्य० 6/8/7), अहं ब्रह्मास्मि (बृहदा० 1/4/10), अयमात्मा ब्रह्म (माण्डू० 2), एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः (बृहदा० 3/7/23), स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः (तैत्ति० 2/8/1), प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐत० आ० 5/3), विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृहदा० 3/9/28), सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्त० 2/1), स एवमेव पुरुषो ब्रह्म एवं च सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छान्दो० 3/14/1), एकमेवाद्वितीयम् (छान्दो० 6/2/1)
6. जन्माद्यस्य यतः — ब्रह्मसूत्र 1/1/2
   यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते — तैत्ति० 3/1

अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसा अपि रचनारूपस्य जन्मस्थितिभगंयतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणात् भवति तद् ब्रह्म॥[1]''

ब्रह्मणः[2] विविधरूपाणां गवेषणाऽपि अथर्ववेदे वर्णिता लभ्यते। यथा—विराड् ब्रह्म (काण्ड-सूक्तानुसारेण 8-9, 8-10, 9-10, 19-6), वाक् तत्त्व (2-1, 4-1), ब्रह्ममाययोः सम्बन्धनिरूपणं (10-8), माया तथा मायी (8-9) उच्छिष्ट ब्रह्म (10-90), ईश्वरः (4-2, 4-14, 7-14, 7-22), सूत्रात्मा (10-8), एकेश्वरः (13-4), स्कन्धब्रह्म (10-7), रोहित ब्रह्म (13-1), त्रैतवादः (9-9), जीवात्मा (9-10, 10-8), इत्यादि ब्रह्मणः विविधस्वरूपं अथर्ववेदीय विवरणे समुपलभ्यन्ते। वेदज्ञाः यं ऋग्वेदं मूर्धा इति, यजुर्वेदमुत्तमाङ्गमिति, सामवेदं शिरः इति तथा च अथर्ववेदं मस्तक रूपे स्थानं प्रदाय समादृतवन्तः[3], तत् प्रायः उचितमेवास्ति। यतोहि अथर्ववेदे ब्रह्मस्वरूपविवेचनेन सह अन्यविविध-विषयाणां विवरणं लभ्यते। गोपथब्राह्मणविवरणानुसारं वेदस्य मुख्यः प्रतिपाद्योविषयः धर्मब्रह्मणोः अन्तर्गत भवति।[4] वस्तुतः धर्म, वेदवृक्षस्य पुष्पं, ब्रह्म च फलं भवति। वृक्षे पुष्पानन्तरमेव फलमागच्छति। अतएव धर्मजिज्ञासानन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा भवति। यतोहि एतस्य क्रमशः विवेचन पूर्वमीमांसादर्शने उत्तरमीमांसादर्शने च वर्णितमुपलभ्यते। तथा च तत्र क्रमशः वर्णितेन "अथातो धर्मजिज्ञासा", "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति मंगलाचरणेनापि स्पष्टं भवति। वस्तुतत्त्वेन उपर्युक्तधर्मब्रह्मणोरेव ऐहिकमामुष्मिकं सर्वमपि समाहितं भवति। अथर्ववेदातिरिक्तान्यवेदस्तु मुख्यत आमुष्मिकफलस्य स्वर्गप्राप्तिफलस्य वा मार्गं बोधयति। यः धर्मानुष्ठानेन यज्ञानुष्ठानेन वा प्राप्तुं शक्यते, किन्तु अथर्ववेदः ऐहिकामुष्मिकं सर्वप्रकारकं सुखसमृद्धिमार्गं बोधयति। यथा च सायणाचार्यस्य "ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति" इत्यनेन वाक्येन स्पष्टमस्ति। ऐहिकामुष्मिकफलप्राप्त्या सहैव अथर्ववेदः मोक्षमार्गमपि बोधयति, यतोहि अस्मिन् वेदे यावन्तःअध्यात्मदर्शनविषयकाः मन्त्राः वर्तन्ते, तावन्तः अन्यवेदेषु न।[5]

---

1. ब्र० सू० शाङ्करभाष्य — 1/1/2
2. विशिष्टविवरणहेतुद्रष्टव्यः — अथर्व० 5/2, 4/14, 19/42 (काण्डसूक्तानुसारेण)
3. द्रष्टव्यः — ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर आमुख - पृ० 5
4. एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरसः — गो० ब्रा० पूर्वभाग 3/4
   चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद इति। गो० ब्रा० पूर्वभाग 2/16
5. यस्य भूमिः प्रमान्तारक्षमुतोदरम्।
   दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
   यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
   अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
   यस्य बातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
   दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ अथर्व० 10/7/32-34 विशिष्ट विवरण हेतु द्रष्टव्यः — Religion and Philosophy of the Atharvaveda -- Dr. N.J. Shende, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona -- 1952

"ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति[1]" एतद् तथ्यस्थ प्रतिपादनं अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषदि एव वर्णितमुपलभ्यते, तत्रैव अथर्ववेदीयगोपथब्राह्मणस्य मन्तव्यं वर्तते यत् ब्रह्मणः प्रापकत्त्वात् अथर्ववेद अन्यवेदापेक्षया श्रेष्ठो वर्तते, यतोहि वेदत्रयी स्वर्गं प्रापयति यदा च अथर्ववेद श्रेष्ठं ब्रह्मलोकं प्रापयति।[2] इत्थं अथर्ववेदे प्राप्तविषयवस्तुभिः स्पष्टं भवति यत् ब्रह्म सत्चित् आनन्दस्वरूपं, अनादि-अनन्तं, जगन्निमित्तं, उपादानकारणं, तदेव च मायोपाधिकं भूत्त्वा जगतः सृष्टिपालनसंहारमपि करोति। ब्रह्मात्मानौ अभिन्नौ एकरूपेणवर्तमानौ द्वयोः अभेदः सम्बन्धः वर्तते, तदेव च एतस्य जगतः सृष्टिस्थितिपालनविनाशकर्त्ता अपि वर्तते। निःसंदेहरूपेण अथर्ववेदे प्रतिपादितब्रह्मस्वरूपनिरूपणं तु अतीव विशदः। अस्मिन् वेदे तु सर्वेषां वेदानां सारमपि निहितं वर्तते, अत एव वेदोऽयं सर्वश्रेष्ठः स्वीक्रियते। कथयति गोपथब्राह्मणः "श्रेष्ठो हि वेदस्ययसोऽधिजातो ब्रह्मज्ञानं हृदये संबभूव"।[3] एवं च—

> एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्मा यद् भृग्वङ्गिरसः।
> यद् भषजं तदमृतं यदमृतम् तद् ब्रह्म॥[4]

---

1. मुण्डको० 3/2/9
2. त्रिविष्टिपन त्रिदिवन्नाकमुत्तमं तमेतया त्रय्या विद्ययेति।
   अत उत्तरे ब्रह्मलोका महान्तोऽथर्वणामङ्गिरसाञ्च सा गतिः॥ गोपथ० ब्रा० पूर्वभाग — 5/25
3. गोपथ ब्राह्मण — 1/9
4. गोपथ ब्राह्मण — 3/4



धन्वन्तरी पुस्तकालय

जम्मू विश्वविद्यालयः, जम्मू-तवी-१८०००६